दैवीकृपा
स्वामी रंगनाथानन्द

दैवीकृपा

स्वामी रंगनाथानन्द

रामकृष्ण मठ
नागपुर

प्रकाशक :
स्वामी ब्रह्मस्थानन्द
अध्यक्ष, रामकृष्ण मठ
रामकृष्ण आश्रम मार्ग
धन्तोली, नागपुर-४४० ०१२

अनुवादिका :
डा. लीना रस्तोगी
उमरेड

श्रीरामकृष्ण-शिवानन्द-स्मृतिग्रन्थमाला
पुष्पसंख्या १४७

(व २० : प्र ३०)

मूल्य : रु. [illegible].००

मुद्रक : गीरनार ग्राफिक्स, नागपुर

दो शब्द

'दैवीकृपा' नामक हमारा नया प्रकाशन पाठकों के सम्मुख रखते हमें हर्ष हो रहा है।

यह पुस्तक 'Divine Grace', का हिन्दी अनुवाद है। रामकृष्ण संघ के महाध्यक्ष श्रीमत् स्वामी रंगनाथानन्दजी महाराज द्वारा प्रदत्त एक व्याख्यान का यह अनुवाद है। २० जून १९७८ में महाराज जी ने 'बीकॉन योग सेन्टर, शिवानन्द आंश्रम, पर्थ, वेस्टर्न ऑस्ट्रेलिया' के सदस्यों के सामने यह व्याख्यान दिया था। सभी प्रमुख धर्मों में इस 'दैवी कृपा' को महत्त्वपूर्ण स्थान दिया गया है। इसका स्वरूप तथा इसका आध्यात्मिक जीवन पर होने-वाला प्रभाव इसके बारे में विस्तृत विवेचन इस पुस्तक में किया गया है।

उपरोक्त पुस्तक का हिन्दी अनुवाद डा. लीना रस्तोगी, उमरेड ने किया है। उनके इस सहयोग के लिए हम उन्हें हार्दिक धन्यवाद देते हैं। इस पुस्तक से पाठक लाभान्वित होंगे तथा दैवी कृपा प्राप्त करने हेतु अपनी साधना में अग्रसर होंगे ऐसा हमें विश्वास है।

नागपुर
दिनांक : १.९.२००० — प्रकाशक

अनुक्रमणिका

दैवीकृपा

प्रस्तावना

आज की शाम मैं उस दैवी कृपा पर चर्चा करूँगा, जो ईसाई धर्म का, इस्लाम का तथा महायान बौद्ध धर्म का भी एक महान सिद्धान्त है। इन सभी धर्मों में ईश्वरीय कृपा आध्यात्मिक विकास के परमोच्च बिन्दु के रूप में उद्बोधित की जाती है। न्यू टेस्टामेंट में कहा गया है, "हजरत मूसा के द्वारा विधि (कानून) प्राप्त हुई किन्तु कृपा और सत्य येशू ख़िस्त से आये।" (John-1-17) बड़ा ही सुन्दर विचार है। हम कृपा तथा प्रीति की कामना करते हैं और कानून भी चाहते हैं। ये दोनों पहलू श्रीमद्भगवद्गीता के योग में अनुस्यूत हैं। यह महान पुस्तक जीवनदर्शन को पूरी तरह प्रस्तुत करती है। ज्यों ज्यों हम इसे (गीता को) समझने की चेष्टा करेंगे, त्यों त्यों "मानवी जीवन" नाम के इस जटिल तत्त्व की तह तक पहुँचकर उस के मर्म पर पकड़ पा सकेंगे।

जीवन के प्रारम्भिक चरण में हमें भगवान् का नहीं, अपितु भौतिक जगत् का ही भान होता है; ईश्वर का भान तो उत्तरकाल में होता है। भगवद्गीता में ऐसा दर्शन है जो दोनों प्रकार के व्यक्तियों को लागू होता है – जो व्यक्तियों और वस्तुओं से भरे भौतिक व्यवहार में लग कर उसी में बह रहे हों उन्हें भी, तथा जिनके मन में भगवद्भाव जगा है, भगवान् के प्यार का जो प्रतिस्फुटन कर पाते हैं, उन्हें भी। जिन्हें हम जीवन के व्यावहारिक तथा आध्यात्मिक पहलू कहते हैं, उन दोनों का समन्वय गीता के दर्शन में पाया जाता है। अर्थात गीता का दर्शन सभी प्रकार के लोगों के लिए है।

आध्यात्मिक जीवन की तीन अवस्थाएँ

इस बात को दृष्टिपथ में रखते हुए गीता के सात सौ श्लोकों को स्थूल रूप से दो भागों में विभाजित किया जा सकता है। प्रथम भाग में आता है हमारे इर्दगिर्द का समाज, सामाजिक परिस्थितियाँ और अपने व्यक्तिगत विकास तथा कल्याण के लिए उनसे चुनौतीभरा आवाहन। इस बिंदु तक यह सब पुरुषकार है – अर्थात् स्वावलम्बिता। अपने सहजीवी मानवप्राणियों द्वारा प्राप्त सहयोग भी इसी में समाविष्ट है।

इसके अनन्तर भान होता है इस भौतिक जगत् के परे बसनेवाली दिव्यता का, जो कि मानवी जीवन के आध्यात्मिक परिप्रेक्ष्य की कुछ धूमिल-सी अनुभूति होती है। कवि वर्डस्वर्थ के शब्दों में यह है – 'अमरत्व का आमन्त्रण' (Intimation of immortality), फिर भी दृढ़ आध्यात्मिक निश्चय से तथा दिव्यता के प्रति सम्पूर्ण समर्पणभाव से हम कोसों दूर रहते हैं। हम तो आध्यात्मिक जीवन में प्रवेश पाने के इच्छुक नौसिखिये हैं। ईश्वरीय अनुभूति को पाने हेतु हम प्रयासरत रहते हैं और चाहते हैं कि हमारा आत्मबल क्रमशः बढ़ता रहे। इस बिन्दु तक यह स्व-अवलम्बन है। स्वयं के व्यक्तिगत प्रयास ही इस में अहम् स्थान रखते हैं, किन्तु वे प्रयास दिव्यत्व में श्रद्धा से सराबोर रहते हैं।

यहाँ से मानव तथा भगवान के बीच साझेदारी प्रारंभ होती है। आध्यात्मिक प्रगति का अर्थ है ईश्वर की साझेदारी का बढ़ते जाना और मानव का धीरे धीरे स्वयं को अधिक सम्पन्न, अधिक सत्त्वशील, अधिक आत्मबली मानने लगना। जिस प्रकार रिज़र्व बैंक के विशाल स्रोत से जुड़ जाने के कारण एक छोटासा बैंक आर्थिक दृष्टि से अपने को अधिक सशक्त मानता है, उसी तरह मानव अपने अन्दर की असीम अध्यात्म-सामर्थ्य के सामने अपनी सीमित जीवन-उपलब्धियों को नगण्य अनुभूत करता है। अध्यात्मसाधना की एक नाजुक स्थिति में मानव आत्मिक बल के स्रोत तक पहुँचते ही उसमें अगला कदम उठाने की हिम्मत जुट जाती है। यही कदम अंतिम तथा महत्त्वपूर्ण होता है। यह है उस दिव्य परब्रह्म के सम्मुख

संपूर्ण आत्मसमर्पण करना तथा अपनी अलग प्रयास करने की बात ही छोड़ देना। इस पुरुषकार (self-effort) तथा शरणागति (self surrender) को दक्षिण भारत की वैष्णव विचारधारा क्रमशः 'वानर-शावक-पद्धति' तथा "मार्जार-शावक-पद्धति" के रूप में वर्णित करती है। बन्दर का बच्चा अपने स्वयं के हाथों की पकड़ से अपनी माँ को चिपका रहता है, जबकि बिल्ली का बच्चा म्याऊ म्याऊ करता, निर्भर रहता है उसकी माँ की पकड़ पर जो उसे अपने दाँतों में बड़े प्रेम से लिये घूमती रहती है।

स्थूल रूप से मानव के आध्यात्मिक जीवन की ये ही दो अवस्थाएँ होती हैं जो उपरोक्त चारों धर्मों में वर्णित हैं। इन दोनों के बीच की भी एक अवस्था होती है, जो सूक्ष्म तरीके से इन दोनों की छटाओं को स्पर्श करती रहती है। इन तीनों अवस्थाओं तथा उनके अन्तःसम्बन्ध के विषय में जैसा सुस्पष्ट और सुगम विवेचन श्रीभगवद्गीता में प्राप्य है वैसा अन्यत्र कहीं नहीं।

पुरुषकार तथा कृपा

हमारे आध्यात्मिक जीवन के प्रथम चरण में हम सामाजिक नैतिकता के मापदण्ड से अपने व्यक्तित्व का विकास करने हेतु प्रयत्नशील रहते हैं, जिसे मूसा ने लॉ (Law) कहा है और वेदान्त में धर्म। इसका सन्दर्भ अन्य व्यक्तियों के साथ व्यवहार से है, चाहे वह व्यवहार समाज के दायरे में हो, विशाल होकर राष्ट्रीय स्तर में हो अथवा अत्यन्त विशालता के साथ आन्तर-राष्ट्रीय सन्दर्भ में हो। यह मानसिक प्रशिक्षा हमारे अंदर नैतिक सद्गुणों एवं कृपाओं को विकसित करने में, हमें मानवीय बनाने में तथा हमारी इन्द्रियजन्य तथा 'अहं' सम्बन्धित सीमाओं को विशाल बनाने में सहायक होती है। पुरुषकार की इस प्राथमिक अवस्था में भी मनुष्य को अपने अन्दर की अलौकिकता की अनुभूति हो सकती है। वर्डस्वर्थ ने कहा है, "जब तक अपने आपको स्वयं के स्तर से ऊपर नहीं उठा लेता, मनुष्य अपने आप में कितना क्षुद्र है।" यही अवस्था है जब हमारी आध्यात्मिक

संवित् प्रगल्भ होती जाती है; जिससे दिव्यत्व की पुकार को हम समझ सकें, उससे आलोकित हो सकें और भौतिक स्तर के परे बसनेवाले सत्य की मिति को छू सकें। आध्यात्मिक जीवन का यह अधिक सूझबूझवाला प्रयास है, जो केवल नैतिक शुद्धाचरण के स्तर से कुछ ऊपर होता है। धर्म की भाषा में यह भगवान् या उसके समकक्ष विभूति की दिशा में जानबूझकर मुड़ना हुआ। इस स्थिति में पुरुषकार के सन्दर्भ में ही ईश्वरीय कृपा की आह्लादक वायुलहरी भी प्रतीत होती है। परन्तु अकसर हम इसे समझ नहीं पाते, न पकड़ ही सकते हैं। गीता का प्रतिपादन है कि इसमें भी कोई हानि नहीं। तुम आत्मनिर्भर बनो। यह आत्मनिर्भरता अच्छी है, प्रशंसनीय है, आवश्यक भी है। गीता में यह भी बताया है कि यह आत्मनिर्भरता, यह पुरुषकार क्यों आवश्यक है, किस प्रकार लाभदायक है तथा किस अवस्था में पहुँचकर हम पुरुषकार को त्याग, ईश्वरकृपा पर पूर्णरूपेण निर्भर हो सकते हैं।

प्राथमिक चरण पर पुरुषकार की महत्ता ईसा के प्रभावी वचनों में भी पायी जाती है –

> "माँगो, तुम्हें वह दिया जायेगा। ढूँढो, तुम्हें वह मिल जायेगा। दस्तक दो, तुम्हारे हेतु वह खुल जायेगा।
>
> जो भी माँगता है, पाता है; जो ढूँढ़ता है, उसे मिल जाता है; और दस्तक देनेवाले के लिए वह खुल जाता है।" (मैथ्यु, ७, ७-८)

मानवी जीवन को व्यापनेवाली आध्यात्मिकता

हम पूछते हैं कि अध्यात्मजीवन का प्रारंभ कब करें? गीता तथा उपनिषद का उत्तर है, "जब तुम युवा हो तथा जब तुम्हारा मन तरोताजा और तन ताकतवर हो, तब!" परंतु दूसरी दुनिया की शुचिता का उत्तर इससे ठीक विपरीत होगा कि धर्म के विषय में सोचना तब शुरू करो जब बुढ़ापा आ जाये। युवावस्था में विषयों का भरपूर उपभोग कर लो और परलोक

की चिंता तब करो जब शरीर विषयभोग के लिए असमर्थ बन जाय।

वेदान्तप्रतिपादित दर्शन इस कर्म और भक्ति, क्रिया और विचारशक्ति, भौतिक और सात्त्विक की खाई को पाट देता है। गत शताब्दि के अंतिम चरम में स्वामी विवेकानन्द ने पूर्व तथा पश्चिम को इसी दर्शन का उपदेश समान रूप से किया था। इस दर्शन की समन्वयवादिता पर प्रकाश डालते हुए भगिनी निवेदिता (कु. मार्गरेट नोबल) ने लिखा है,

> "अनेक और एक, विभिन्न समयों पर विभिन्न वृत्तियों में मन के द्वारा देखा जानेवाला एक ही तत्त्व है।
>
> "यही – वह वस्तु है, जो हमारे गुरुदेव (स्वामी विवेकानन्द) के जीवन को सर्वोच्च महत्त्व प्रदान करती है, क्योंकि यहाँ वे पूर्व और पश्चिम की ही नहीं, भूत और भविष्य के भी संगम-बिन्दु बन जाते हैं। यदि एक और अनेक सचमुच एक ही सत्य हैं, तो केवल उपासना के विविध प्रकार नहीं, वरन् सामान्य रूप से कर्म के भी सभी प्रकार, संघर्ष के सभी प्रकार, सर्जन के सभी प्रकार भी सत्य साक्षात्कार के मार्ग हैं। अतः लौकिक और धार्मिक में अब आगे कोई भेद नहीं रह जाता। कर्म करना ही उपासना करना है। विजय प्राप्त करना ही त्याग करना है। स्वयं जीवन ही धर्म है। प्राप्त करना और अपने अधिकार में रखना उतना ही कठोर न्यास है, जितना कि त्याग करना और विमुख होना।
>
> "स्वामी विवेकानन्द की यही अनुभूति है, जिसने उन्हें उस कर्म का महान् उपदेष्टा सिद्ध किया, जो ज्ञान-भक्ति से अलग नहीं, वरन् उन्हें अभिव्यक्त करनेवाला है। उसके लिए कारखाना, अध्ययन-कक्ष, खेत और क्रीड़ाभूमि आदि भगवान के साक्षात्कार के वैसे ही उत्तम और योग्य स्थान हैं, जैसे साधु की कुटी या मन्दिर का द्वार। उनके लिए मानव की सेवा और ईश्वर की पूजा, पौरुष तथा श्रद्धा, सच्चे नैतिक बल और

आध्यात्मिकता में कोई अन्तर नहीं है।'' (विवेकानन्द साहित्य, प्रथम खण्ड, भूमिका – हमारे गुरु और उनका सन्देश)

उभरती दुनिया और आजकी आस्तिक-नास्तिक, श्रद्धालु-अश्रद्ध नरनारियों के सम्मुख इस समन्वयवाद की व्याख्या करते समय मैं स्वामी विवेकानन्द के व्याख्यान के (The Necessity of Religion – London – 1896) कुछ प्रेरक अंश प्रस्तुत करने से अधिक कुछ नहीं कर सकता। उन्होंने कहा था,

"जैसे जैसे मानव-मन का विस्तार होता है, वैसे आध्यात्मिक सोपान भी विस्तृत होते जाते हैं। वह समय तो आ ही गया है, जब कोई व्यक्ति पृथ्वी के किसी कोने में कोई बात कहे और सारे विश्व में वह गूँज उठे। मात्र भौतिक साधनों से हमने सम्पूर्ण जगत् को एक बना डाला है। इसलिए स्वभावत: ही आनेवाले धर्म को विश्वव्यापी होना पड़ेगा।

"भविष्य के धार्मिक आदर्शों को सम्पूर्ण जगत् में जो कुछ भी सुन्दर और महत्त्वपूर्ण है, उन सबों को समेटकर चलना पड़ेगा और साथ ही भावविकास के लिए अनंत क्षेत्र प्रदान करना पड़ेगा। अतीत में जो कुछ भी सुन्दर रहा है, उसे जीवित रखना होगा, साथ ही वर्तमान के भण्डार को और भी समृद्ध बनाने के लिए भविष्य का विकासद्वार भी खुला रखना होगा। धर्म को ग्रहणशील होना चाहिए, और ईश्वर संबंधी अपने आदर्शों में भिन्नता के कारण एक दूसरे का तिरस्कार नहीं करना चाहिए। मैंने अपने जीवन में ऐसे अनेक महापुरुषों को देखा है, जो ईश्वर में एकदम विश्वास नहीं करते थे, अर्थात् हमारे और तुम्हारे ईश्वर में। किन्तु वे लोग ईश्वर को हमारी अपेक्षा अधिक अच्छी तरह समझते थे। ईश्वर सम्बन्धी सभी सिद्धान्त – सगुण, निर्गुण, अनन्त, नैतिक नियम अथवा आदर्श मानव – धर्म की परिभाषा के अन्तर्गत आने चाहिए। और जब धर्म इतने उदार बन जायँगे, तब उनकी

कल्याणकारिणी शक्ति सौगुनी अधिक हो जायगी। धर्मों में अद्भुत शक्ति है; पर केवल इनकी संकीर्णताओं के कारण अक्सर इनसे कल्याण की अपेक्षा अधिक हानि ही हुई है।

"... धार्मिक विचारों को विस्तृत, विश्वव्यापक और असीम होना पड़ेगा, और तभी हम धर्म का पूर्ण रूप प्राप्त करेंगे, क्योंकि धर्म की शक्तियों कि वास्तविक अभिव्यक्ति तो बस अब शुरू हुई है। लोग कहते हैं – धर्म मर रहा है, आध्यात्मिकता का ह्रास हो रहा है; पर मुझे तो लगता है कि अभी अभी ये पनपने लगे हैं। एक सुसंस्कृत एवं उदार धर्म की शक्ति अभी ही तो सम्पूर्ण मानव जीवन में प्रवेश करने जा रही है। जब तक धर्म कुछ इन-गिने पण्डे-पादरियों के हाथों में रहा, तब तक इसका दायरा मन्दिर, गिरजाघर, धर्मग्रन्थों, धार्मिक नियमों, अनुष्ठानों और बाह्याचारों तक सीमित रहा। पर जब हम यथार्थ आध्यात्मिक और विश्वव्यापक धारणा पर आ उपनीत होंगे, तब और तभी धर्म यथार्थ हो उठेगा, सजीव हो उठेगा, हमारे जीवन का अंग बन जायगा, हमारी हर गति में रहेगा, समाज के रोम रोम में समा जायगा, और तब इसकी शिवात्मक शक्ति पहले कभी भी की अपेक्षा अनन्त गुनी अधिक हो जायगी।" (विवेकानन्द साहित्य, द्वितीय खण्ड, तृतीय संस्करण, पृष्ठ २००-२०१)

वेदान्त-मत के अनुसार, अध्यात्म इस प्रकार मानवी जीवन के समूचे परिप्रेक्ष्य को व्यापता है – उस तथाकथित लौकिक अवस्था में भी जब मानव अपने जीवन का सर्वेसर्वा कर्णधार स्वयं होता है तथा उसमें ईश्वर की कोई साझेदारी नहीं होती।

बालक के विकास में पुरुषकार का महत्त्व

जब बच्चा जन्म लेता है, हम उसे स्वयंनिर्भरता सिखाते हैं; उसकी

अपनी पहचान तथा व्यक्तित्व बनाने में तथा उसकी शारीरिक, मानसिक, आध्यात्मिक शक्ति बढ़ाने में सहायता करते हैं। उसे हम विशुद्ध शरणागति का उच्च दर्शन नहीं पढ़ा सकते। वस्तुत: जीवन के आरंभ काल में वह बालक पूर्णतया प्रकृति पर ही निर्भर रहता है। पहले कुछ महीनों तक वह अपनी माँ पर ही पूर्णरूपेण अवलम्बित रहता है। परन्तु माँ नहीं चाहती कि यह भविष्य में भी ऐसा ही रहे। वह उसे स्वतंत्र व्यक्ति के रूप में आत्मनिर्भर देखना चाहती है, तभी तो वह परिपूर्ण बनेगा। उसी प्रकार आध्यात्मिक जीवन में जब तक हम शिशु हैं, गीता हमें पढ़ाती है कि स्वयंनिर्भर बनो, अपने पाँवों पर खड़े होना सीखो। तुम्हारे बचपन में माँ ने तुम्हें यही सिखाया था। तुम चाहो तो माँ आजीवन तुम्हारी उँगली पकड़े रहेगी, परंतु इससे न तुम्हारा विकास हो पायेगा, न तुम्हें सफलता ही मिलेगी। तुम्हारे स्वयं के चरण बलिष्ठ होने चाहिए। यह बात तो आत्मनिर्भरता के अभ्यास से तथा आत्मविश्वास से ही साध्य हो सकेगी। बच्चों की शिक्षा के सन्दर्भ में यह बात बहुत ही अच्छी है। हम देखते हैं कि आत्मनिर्भरता के अभ्यास से बच्चा शारीरिक तथा मानसिक रूप से परिपुष्ट होता जाता है, और ज्यों ज्यों वह स्वयंसिद्ध या अधिकाधिक आत्मविश्वासी बनता जाता है, उसकी माता अधिकाधिक प्रसन्न होती जाती है और उसे अधिकाधिक प्रोत्साहित करती रहती है। बच्चे के कुछ कर दिखाने पर ताली बजाती है, जिससे बच्चे को अधिक आत्मनिर्भर बनने की प्रेरणा मिलती रहती है। इसी से बच्चे में स्वाभिमान जगता है, अपनी अलग पहचान बनाने की मानसिकता जग उठती है और उसकी कृतिशीलता उजागर या विकसित होती रहती है।

पुरुषकार – गीता के योगगान का प्रथम स्वर

शिशुशिक्षा के विषय में, उसकी वृद्धि तथा विकास के बारे में उपर्युक्त सत्य का ध्यान रखने से ही समझ में आयेगा कि हम, जो धर्म के सन्दर्भ में शिशुमात्र हैं, किस प्रकार आगे बढ़े। प्रारंभ में हमें शरणागति का नहीं,

अपितु पुरुषकार का ही प्रश्रय लेना है अन्यथा हमारा आध्यात्मिक विकास कुंठित होगा। हमारी अवस्था उस बच्चे जैसी होगी जो अपनी ओर से बिना कोई प्रयत्न किये केवल अपनी माँ पर ही अवलंबित हो और वह माँ भी उसे वैसा ही रहने को प्रेरित करती हो। मानव के आध्यात्मिक विकास की सत्यता निरंतर प्रस्फुटन की शिक्षा के रूप में यहाँ प्रकट होती है। स्वामी विवेकानंद कहते हैं कि मानव में पहले से ही बसनेवाली परिपूर्णता की अभिव्यक्ति ही 'शिक्षा' है तथा 'धर्म' प्रस्फुटन है दिव्यता का जो मानव में पहले से ही विद्यमान है। इसीलिये तो गीता अर्जुन के माध्यम से समस्त नर-नारियों को चेतावनी देती है,

कुतस्त्वा कश्मलमिदं विषमे समुपस्थितम्।
अनार्यजुष्टमस्वर्ग्यमकीर्तिकरमर्जुन।। भगवद्गीता २.२

हे अर्जुन, इस विषम परिस्थिति में तुममें यह अनार्य-सदृश, स्वर्गप्राप्तिविरोधी और बदनामीकारक अकर्मण्यता क्यों?

क्लैब्यं मा स्म गमः पार्थ नैतत्त्वय्युपपद्यते।
क्षुद्रं हृदयदौर्बल्यं त्यक्त्वोत्तिष्ठ परंतप।। भगवद्गीता २.३

पार्थ, अकर्मण्य मत बनो। यह तुम्हें शोभा नहीं देता। मन की इस दुर्बलता को त्यागकर ओ परंतप, (शत्रुओं को तहस-नहस करनेवाले) उठो!

सो उठिये, अपने व्यक्तित्व को दावे के साथ उजागर कीजिये, अपने अन्तर्बल को जगाइये। 'गीता की यह सीख कितनी यथार्थ, कितनी सशक्त है। दुनिया के सभी धर्मग्रन्थों में केवल गीता ने ही आत्मनिर्भरता को 'मनुष्य के समूचे आध्यात्मिक जीवन के प्रथम महान् पाठ' के रूप में स्पष्टतया प्रस्तुत किया है।

गीता के षष्ठ अध्याय 'ध्यानयोग' में यह सत्य फिरसे दुहराया गया है –

उद्धरेदात्मनात्मानं नात्मानमवसादयेत्।
आत्मैव ह्यात्मनो बन्धुरात्मैव रिपुरात्मनः।। भगवद्गीता ६.५

आत्मा का उद्धार स्वयं करें, आत्म-अवमान कभी न करें। तुम स्वयं ही स्वयं के सखा हो तथा स्वयं के शत्रु भी तुम स्वयं ही हो।

अब यह स्वयं ही अपने मित्र या शत्रु होने का क्या रहस्य है? अगला श्लोक विशद करता है –

बन्धुरात्मात्मनस्तस्य येनात्मैवात्मना जित:।
अनात्मनस्तु शत्रुत्वे वर्तेतात्मैव शत्रुवत्।। भगवद्गीता ६.६

जिसने अपने स्वयं के मन तथा इन्द्रियों को स्वयं ही जीत लिया वह स्वयं का (आत्मा का) मित्र बना किन्तु जिसमें यह संयम नहीं, वह स्वयं के साथ शत्रुवत् ही रहता है।

इसीलिए अध्यात्मजीवन के प्रारंभिक चरण में हमें आत्मनिर्भर रहने की सीख दी जाती है – हम आत्मनिर्भरता का अभ्यास करते हैं और स्वयं को मनोबलयुक्त बनाते है इसी तरह व्यक्तित्वविकास एवं उसकी पूर्णता की हमारी लंबी यात्रा शुरू होती है। गीता के प्रारंभिक अध्याय व्यक्तित्वसम्पन्नता से जुड़े हुए हैं जिनमें व्यक्तित्व तथा चारित्र्य बल के संघटन पर जोर दिया है, इसे ही योगदर्शन के प्रधान अंग के रूप में प्रतिपादित किया गया है। यही गीताप्रणीत 'योग' है।

विवेकानन्द का पुरुषार्थयुक्त अध्यात्म

अक्सर हम उस महत्त्वपूर्ण सत्य को पहचानने में तथा उसको कार्यान्वित करने में चूक जाते हैं जिसे विवेकानन्द ने अपने दर्शन का – मानवीयता सिखानेवाली शिक्षा तथा मानवधर्म का – केन्द्रीय सत्य माना है। My Plan of Compaign (मेरी क्रान्तिकारी योजना) व्याख्यान में वे कहते हैं –

"अतएव आज हम जो चाहते है, वह है – बल, अपने में अटूट विश्वास। ... अपने स्नायु बलवान बनाओ। आज हमें जिसकी आवश्यकता है, वह है – लोहे के पुट्ठे और फ़ौलाद

के स्नायु। हम लोग बहुत दिन रो चुके। अब और रोने की आवश्यकता नहीं। अब अपने पैरों पर खड़े हो जाओ और 'मर्द' बनो। हमें ऐसे धर्म की आवश्यकता है, जिससे हम मनुष्य बन सके। हमें ऐसे सिद्धान्तों की जरूरत है, जिससे हम मनुष्य हो सकें। हमें ऐसी सर्वांगसम्पन्न शिक्षा चाहिए, जो हमें मनुष्य बना सके। और यह रही सत्य की कसौटी – जो भी तुमको शारीरिक, मानसिक और आध्यात्मिक दृष्टि से दुर्बल बनाये उसे जहर की भाँति त्याग दो, उसमें जीवन-शक्ति नहीं है, वह कभी सत्य नहीं हो सकता। सत्य तो बलप्रद है, वह पवित्रता है, वह ज्ञानस्वरूप है।'' (विवेकानन्द साहित्य, पंचम खण्ड, तृतीय संस्करण, पृष्ठ ११९-१२०)

भारतीय परम्परा के दो प्रसिद्ध सुभाषित हैं –

उद्योगिनं पुरुषसिंहमुपैति लक्ष्मीः
दैवेन देयमिति कापुरुषा वदन्ति।
दैवं निहत्य कुरु पौरुषमात्मशक्त्या
यत्ने कृते यदि न सिध्यति, कोऽत्र दोषः ।।

लक्ष्मीजी उन पुरुषसिंहो से प्रसन्न रहती हैं जो उद्यमशील हैं। दैववादी तो कापुरुष होते हैं। भाग्य के भरोसे न रहकर अपने बलबूते पर पुरुषार्थ करो। फिर प्रयासों के बावजूद यदि सफलता न मिले तो फिर तुम्हारा कोई दोष नहीं।
तथा –

उद्यमेन हि सिध्यन्ति कार्याणि न मनोरथैः
न हि सुप्तस्य सिंहस्य प्रविशन्ति मुखे मृगाः।

कार्य उद्यम से ही सिद्ध होते हैं, न कि खयाली पुलाव पकाने से। सोये हुए सिंह के मुँह में हिरन स्वयं नहीं कूद पड़ते।

तो यही पहला महत्त्वपूर्ण पाठ है। शारीरिक तथा मानसिक बल

कमाइये, अपनी प्रतिभा, योग्यता तथा कार्यक्षमता को विकसित किजिये। आत्मविश्वास जगाइये, स्वयं निर्भर बन जाइये तथा कठोर परिश्रम करके ईमानदारी से ज्ञानार्जन-द्रव्यार्जन कीजिये। अपनी सम्पत्ति तथा खुशियों को दूसरों के साथ बाँट लीजिये और उनसे भलाई तथा शुभकामनाएँ पाइये। आध्यात्मिक जीवन के प्रारंभिक चरण में जो प्रशिक्षण होता है उसमें यही सब निहित है। सम्पत्ति तथा अहंकार से विरक्ति या सम्पूर्ण आत्मसमर्पण तो बाद में आता है, प्रारंभिक अवस्था में नहीं।

मानव के उत्थान के सन्दर्भ में उपर्युक्त सत्य पर स्वामी विवेकानन्द ने बहुत अधिक बल दिया है, क्योंकि उन्होंने अपने लोगों में देखा कि बहुत से दुर्बल व्यक्ति जो किसी काम के योग्य नहीं, फिर भी यही भावना पालते हैं – 'भगवान्, मैं तो तुच्छ हूँ। तूही सब कुछ है। मैं तेरे चरणों पर पूरी तरह निछावर हूँ।' – ये लोग सही में तुच्छ होते हैं। स्पष्ट है, इस तरह की शरणागति में कुछ भी प्रशंसनीय नहीं है। यह तो अर्थहीन बात है कि जो संसार में किसी योग्य नहीं उसे भगवान् के निकट योग्य माना जाय। भगवान् तो अपने आप से यही कहेगा कि मैं इसे लेकर क्या करूँ? यह तो मेरे लिए एक बोझ मात्र रहेगा। ऐसा भक्त पाकर मुझे कौनसी खुशी है? मेरी भक्ति करनेवाला तो बड़ा उम्दा होना चाहिए।

यह एक महान विचार है। उसे हम जितनी शीघ्रता से, बारीकी से समझ पायेंगे, उतनाही श्रेयस्कर होगा। "वेदान्त और उसका भारतीय जीवनप्रणाली में स्थान" विषय पर बोलते हुए स्वामी विवेकानन्द ने कहा है –

> "उपनिषदों का प्रत्येक पृष्ठ मुझे शक्ति का सन्देश देता है। ... हे मानव, तेजस्वी बनो, वीर्यवान बनो, दुर्बलता को त्यागो। मनुष्य प्रश्न करता है, क्या मनुष्य में दुर्बलता नहीं है? उपनिषद कहते हैं, अवश्य है, किन्तु अधिक दुर्बलता द्वारा क्या यह दुर्बलता दूर होगी? ... जगत् के साहित्य में केवल इन्हीं उपनिषदों में 'अभीः' (भयशून्य) यह शब्द बार

बार व्यवहृत हुआ है।" (विवेकानन्द साहित्य पंचम खण्ड, तृतीय संस्करण, पृष्ठ १३२)

वेदान्त – आत्मज्ञान के व्यापक सन्दर्भ

इस प्रकार मानव की अध्यात्म-साधना के प्रथम चरण में गीता हमें पुरुषकार या आत्मनिर्भरता की सीख देती है। लक्षणीय है कि गीता प्रणीत दर्शन में भौतिक तथा आध्यात्मिक जीवन के बीच कोई सुनिश्चित भेद नहीं है। मानव के विकासमार्ग का पहला पड़ाव है भौतिक शिक्षा, जैसे कि बच्चे के स्वाभिमान तथा व्यक्तित्वबोध को पुष्ट करने हेतू उसकी माँ उसे छोटीमोटी बातें सिखाती रहती है। इसीलिए वेदान्त ने इस शिक्षा को भी आत्मज्ञान की पहली सीढ़ी बताया है। – जैसे कि छोटासा शिशु समझने लगता है कि "मैं भी कोई हूँ।" "मेरा एक स्वतंत्र अस्तित्व है।" "मैं केवल हाड़-मांस का एक ढ़ेर नहीं", "इस बाह्य जगत् की केवल एक वस्तु मात्र नहीं।"

आज तक हम भारतीयों ने वेदान्त की अध्यात्मविद्या या आत्मज्ञान के गहन सिद्धान्त को केवल समाधि तुरीया अवस्था आदि अलौकिक अनुभूतियों की मिति से ही निगड़ित मानकर चर्चा की। परन्तु यह बात केवल आत्मज्ञानसम्पन्न उन योगियों के ही सन्दर्भ में खरी उतरती है जो संख्या में अत्यन्त अल्प हैं, चाहे किसी भी समाज में क्यों न हो! साधारण नरनारियों या बालकों का इससे जो सम्बन्ध होगा, उस विषय में हमारे पास कोई धारणा या अन्तर्दृष्टि है ही नहीं। आधुनिक युग में स्वामी विवेकानन्द ने वेदान्त का जो विश्लेषण किया उसमें इस महान् विषय का ही प्रबोधन है। साधारण किन्तु निग्रही व्यक्ति ने कुछ मात्रा तक आत्मज्ञान प्राप्त कर लिया है परन्तु अपने परिवार या सामाजिक परिवेश की बुराइयों से प्रभावित व्यक्ति आत्मज्ञान नहीं पा सका।

आत्मज्ञान तथा भावनिक रूप से अन्यमनस्क शिशु

कई बालक जो भावनिक सतह पर बिखर जाते हैं, उसके पीछे उनकी माता का, पिता का या कभी कभी उन दोनों का उस बालक के प्रति

अस्वाभाविक आचरण (गलत आचरण) होता है, जिससे वह बालक असुरक्षा-सी अनुभव करने लगता है; कभी उद्दंड बन जाता है – जो कि आत्मज्ञान के अभाव से होता है। आधुनिक मनोविज्ञान – विशेषकर क्रीड़न प्रणाली (Play therapy) ऐसे बालकों की अंतर्ग्रन्थि सुललित रूप से सुलझाने का एक प्रभावशाली तरीका है जो उनके स्तर पर आत्मज्ञान जगाकर उनका विकास कराता है। व्हर्जिनिया एम. एकस्लाइन (Virginia M. Axline) "Dibs – In Search of Self" में "Personality Devlopment in Play Therapy" नामक अध्याय में आत्मज्ञान के इस चमत्कारी तथा अतुलनीय पहलू पर प्रकाश डाला है। इस पुस्तक के एक अध्याय में ऐसी संकल्पनाओं तथा शब्दावली का प्रयोग है जो वेदान्त के आत्मज्ञान के फल का स्मरण कराता है – किस प्रकार डिब्ज, पाँच वर्ष का एक प्रतिभाशाली किन्तु भावनिक तौर पर बिखरा हुआ बच्चा क्रीड़न प्रणाली के प्रयोगों द्वारा शिशु-मार्गदर्शन केन्द्र में स्वयं को पहचान पाने में सफल हुआ। (पृष्ठ १७८-७९, पेलिकन आवृत्ति १९७६)

> अपने प्रतीकात्मक खेल में उसने अपनी दुखती रग उँडेल दी, और बलशालिता की, सुरक्षा की भावनाएँ उसमें उभर आयीं। वह ऐसे 'अहं' की खोज में था जिसे वह स्वाभिमानपूर्वक अपनी पहचान के रूप में प्रस्तुत कर सके। अपने माता पिता तथा बहन के प्रति जो शत्रुत्व और बढ़ने की भावनाओं का परिपोष किया था वे अब भी तीव्रतर हो उठती थी किन्तु घृणा और भय से जल नहीं उठती, उसने उनमें थोड़ा परिवर्तन लाया था। नासमझ डरा हुआ डिब्ज अपने आत्मभाव की धारणा को परिपूर्णता, सुरक्षा एवं धीरज की भावना से बलशाली बना पाया था। वह अपने भावों को समझने लगा था। उनके साथ कैसे निपटा जाय और उन्हें कैसे नियंत्रण में रखा जाय। अब डिब्ज भय, क्रोध तथा अपराध की भावनाओं में नहीं डूबा रहता। वह अपने आप में योग्य व्यक्ति था। आत्मसम्मान और

प्रतिष्ठा का भाव उसमें जाग उठा था। इस आत्मविश्वास और सुरक्षा की भावनाने उसे इस जगत के लोगों को मानना तथा उनका सम्मान करना सीखा था। अब उसे अपने स्वयं का भय नहीं लगता था। गीता तथा स्वामी विवेकानन्द द्वारा किये गये प्रतिपादन में वेदान्त की असीम व्याप्ति का सही बोध मिलता है जो आत्मज्ञान के शक्तिशाली दर्शन से सम्बद्ध है। भौतिक शिक्षा की दशा में जो व्यक्तित्वविकास या चारित्र्यनिर्माण होता है वह उस दर्शन के अनुसार मानव में पहले से ही विद्यमान उस दिव्य आत्मा की अभिव्यक्ति की प्राथमिक झलक मात्र है। बाद के निरंतर बढ़ते दायरे उसकी उत्तरोत्तर उच्च कलाओं में निहित हैं।

वैराग्य – भीरुता विरुद्ध बलशालिता

स्वामी षिवेकानन्द ने कहा था, "मैं भारत में कहीं भी जाऊँ, लोग आकर मुझे कहते हैं कि "स्वामीजी; मैं संन्यास लेना चाहता हूँ, भगवान के चरणों में सबकुछ न्यौछावर करना चाहता हूँ।" – मैं उन्हें पूछता हूँ, "तुम्हारे पास त्याग या समर्पण के लिए है क्या? न बलिष्ठ शरीर, न प्रशिक्षित मन, न प्रतिभा, न सम्पत्ति और न ही सुविकसित चारित्र्य! भगवान् बुद्ध संन्यास ले सकते थे क्योंकि उनके पास पूरा राज्य था, यौवन था। दुनियाभर की उपलब्धियाँ उनकी मुट्ठी में थी जिनपर उन्होंने पानी छोड़ दिया, परन्तु तुम्हारे पास त्याग करने के लिए है क्या?"

कितने अच्छे विचार है! कितने प्रेरक और सुस्पष्ट! अपनी कुमार-अवस्था में जब मैंने पहली बार यह पढ़ा, मैं आत्मविकास के विचार से ही अभिभूत हो गया कि वही वेदान्त की सही व्याप्ति है। दुनिया के हर कोने के लोगों के लिए यह कितना प्रेरणादायी और विधायक सन्देश है। धर्म के इस पहले आयाम को दुर्लक्षित करके अकसर कई कमजोर व्यक्ति धर्म की उच्चतर कक्षा का प्रश्रय लेना चाहते हैं। समूचे धर्म के नाम पर

यह एक नाटक-सा प्रतीत होता है – लगता है कि मानवी जीवन एक ऐसी करुण, निष्फल कथा है जिसमें धैर्य-शौर्य का कोई स्थानही न हो। यदि वे पहले से उतनी ही सीख पर अमल करें जिसको वे पचा सकें तो ऐसा नहीं होगा। फिर वे पहले शक्ति पायेंगे जिससे धीरेधीरे उच्च से उच्चतर यात्रा की ओर चढ़ सकेंगे और अन्ततोगत्वा 'धर्म' के उच्चतम शिखर पर पहुँच पायेंगे। विवेकानन्द ने कहा है कि धर्म की व्याप्ति की कोई सीमा नहीं है। शिक्षा की तरह वह (धर्म) हरेक को अपने में समा लेता है चाहे वह व्यक्ति किसी भी प्रदेश का हो, स्त्री हो या पुरुष हो, उसे आगे बढ़ने में सहायक होता है।

नर से नारायण बनने का गीता का सन्देश

गीता में इस शक्तिशाली संगीत के स्वर प्रारंभ से अंततक अनुगुंजित हैं। यह बल का संगीत है, धीरेधीरे खिलते जानेवाले मानवी उन्मेषों का, मानवी विकास का संगीत है। एडविन अर्नोल्ड ने जिसे Song Celestial कहा है, उस गीता के पहले कुछ अध्यायों में मानव को गढ़ने का समग्र दर्शन है। जब अर्जुन वास्तव में दुर्बल था, वह अपने आप को सद्गुणों की खान समझता रहा। ऐन कसौटी के क्षण में वह रणक्षेत्र से भागने की सोच रहा था, युद्धोपरांत जो राज्य उसका होनेवाला था उसका भी त्याग करने चला था, याचक बनने जा रहा था और और अपने इस कदम का अनेकों दलीलों से समर्थन भी कर रहा था। इस सारे प्रकार में भगवान् कृष्ण की अनुमति और आशीर्वचन की भी आकांक्षा रखता था। वह रोया, पछताया और रथ से उतरकर उसने अपने धनुषबाण भी त्याग दिये! गीता के प्रथम अध्याय "अर्जुनविषादयोग" के अंत में अर्जुन का चित्रण ऐसा ही है। श्रीकृष्ण चकित होकर उसे निहारते हैं, मुस्कुराते हैं और सोचते हैं, "इसे हो क्या गया है? यह तो शौर्य का पुतला था; अब इतना हताश और टूट चुका है – अपनी इस दुर्बलता को ही सद्गुण कह रहा है!" – और इसीलिए उसकी निःसत्त्व धमनियों में प्राण फूँकने हेतु दूसरे अध्याय

के श्लोक क्रमांक दो और तीन (जो पहले उद्धृत किये हैं) के संजीवक, प्रेरक शब्द उन्होंने अर्जुन को चेताने हेतु सुनाये।

गीता का प्रारंभ इसी पौरुष के संदेश से होता है जो मानवीय विकास का पुरजोर संगीत है। लक्षणीय है कि गीता का सन्दर्भ यद्यपि युद्ध से है, फिर भी आगे चलकर इसमें सर्वत्र मानवीय विकास, मानवी आकांक्षाओं के तत्त्वज्ञान की समन्वित आध्यात्मिकता का ही प्रतिपादन है। आध्यात्मिक शिक्षा का प्रारंभ इस पौरुष-वृत्ति से ही होता है; देवता, भगवान् आदि बाह्य घटकों पर अवलंबित रहने से नहीं, जैसे हमेशा माँ की गोद में रहनेवाला बालक सदा बच्चा ही रहेगा, पनप नहीं पायेगा। अध्यात्ममार्ग पर चलनेवाला नवसाधक भी आत्मश्रद्धा और आत्मनिर्भरता के महान् संदेश को बूझने पर ही आत्मोन्नति कर पायेगा – उसके शरीर के स्नायु बलवान् होंगे; प्रज्ञा और इच्छाशक्तिरूपी मानसिक स्नायु भी तथा सहृदयता के रूप में भावनिक स्नायु भी। उसी अध्याय में आगे श्रीकृष्ण ने कहा है कि निश्चयपरक बुद्धि की एकाग्रता का बड़ा महत्त्व है –

व्यवसायात्मिका बुद्धिरेकेह कुरुनन्दन।
बहुशाखा ह्यनन्ताश्च बुद्धयोऽव्यवसायिनाम्।। भगवद्गीता २.४१

हे कुरुनन्दन, (इस बुद्धियोग में) एक व्यवसायात्मिका बुद्धि (एकही स्थानपर केन्द्रीभूत दृढ़ बुद्धि) ही सर्वोत्तम है। जो निश्चयात्मक नहीं, उनकी मति अनेक दिशाओं में दौड़ती रहती है।

धार्मिक तथा व्यावहारिक जीवन में कोई बहुत बड़ी खाई नहीं है। जीवन तो एक निरंतर प्रकटीकरण है उन असीम सम्भावनाओं का जो हर व्यक्ति के अंदर छुपी हुई होती हैं। दुर्भाग्य से हम इन्हें एकमेक से अछूते कोशों की तरह (Watertight Compartments) भेद के रूप में लेते हैं कि यह जीवनपद्धति धार्मिक है, यह अधार्मिक है, यह ऐहिक है, यह पारलौकिक है – ! गीता ऐसे भेदो का समर्थन नहीं करती। श्रीकृष्ण के कथन का आशय है कि जीवन मूलतया एक ही है। उसका प्रारंभ पुरुषार्थ

तथा चरित्रनिर्माण से होता है, परन्तु अन्य भी आध्यात्मिक ऊँचाइयाँ हैं जो प्राप्य हैं – उनके विषय में मैं तुम्हें बाद में बताऊँगा।

शरणागति – गीता के योगगान का अंतिम अंतरा

जब हम अपने अंदर के सद्गुणों और अच्छाइयों को प्रकट करेंगे, अपने अंदर बाहुबल, आत्मविश्वास तथा निर्भयता जगायेंगे, स्वयं की अलग पहचान बनायेंगे, तब कहीं श्रीकृष्ण आकर अपने ईश्वरीय संगीत (गीता) के तालमधुर स्वर सुनायेंगे – अधिक तेजस्विता और आकर्षकता से फिर भी उसीकी पुनः पुनः आवृत्ति के साथ। गीता के अंत में – विशेषतया अठारहवें अध्याय में – भगवान् श्रीकृष्ण मानवी आत्मा को बड़े मुलायम अंदाज में कहते हैं, "अब तुम में चारित्र्यबल आ गया, तुम्हारा व्यक्तित्व निखर आया; मानव, समाज तथा उनके परस्पर सम्बन्ध के विषय में तुममें आत्मविश्वास जग उठा है, इसीलिए मैं तुम्हें यह रहस्य प्रकट करता हूँ कि सारे धर्मों को छोड़ तुम अपने सम्पूर्ण 'अहं' के साथ मेरी शरण में आ जाओ। मैं ही वह एकमात्र दिव्य तत्त्व हूँ जो सारे मनुष्यप्राणियों तथा चराचर में व्याप्त है।" – यह त्याग सच्चा होगा, यह शरणागति भी परमोच्च विजय की निशानी होगी क्योंकि समर्पण करनेयोग्य 'कुछ' यहाँपर विद्यमान है, और वह समर्पण मानवों तथा प्रकृति में सर्वोच्च तथा सर्वोत्कृष्ट के प्रति है जो सान्त-सीमित के परे बसनेवाला अनादि-अनन्त शाश्वत सत्य है। हमारी भक्तिपरम्परा जिसे चरम श्लोक कहती है, गीता के उस महान श्लोक में यही प्रेरणादायी संगीत है –

सर्वधर्मान् परित्यज्य मामेकं शरणं व्रज।
अहं त्वा सर्वपापेभ्यो मोक्षयिष्यामि मा शुचः।। भगवद्गीता १८.६६

सारे धर्मों का (कर्तव्यों तथा दायित्वों जो अपनेही 'अहं' में समुद्भुत हैं) त्याग कर मुझ अकेले में ही शरण पा लो। मैं तुम्हे सारे पापों से मुक्ति दिला दूँगा। चिंता मत करो।

इस श्लोक से पहले श्रीकृष्ण ने कहा है –

सर्वगुह्यतमं भूयः शृणु मे परमं वचः।
इष्टोऽसि मे दृढमिति ततो वक्ष्यामि ते हितम्।। भगवद्गीता १८.६४

अध्यात्म का परम रहस्य जो मैं बता रहा हूँ, तुम फिरसे सुनो। तुम मेरे परम प्रिय हो, इसीलिए मैं तुम्हें यह कल्याणकारी (रहस्य) सुनाऊँगा।

मन्मना भव मद्भक्तो मद्याजी मां नमस्कुरु।
मामेवैष्यसि सत्यं ते प्रतिजाने प्रियोऽसि मे।। भगवद्गीता १८.६५

अपने मन में मुझे बसा लो, मेरे भक्त बनो, मेरे नाम हविर्द्रव्य अर्पण करो, मुझे प्रणाम करो। मैं वचन देता हूँ कि तुम मुझतक पहुँचोगे – मुझमें समा जाओगे (क्योंकि) तुम मेरे प्रिय हो।

परमात्मा का अन्य अवतार ईसा मसीह भी कहते हैं –

"Comeunto me, all ye that labour and are heavy laden, and I shall give you rest. Take my yoke upon you and learn of me, for I am meek and lowly in heart; and ye shall find rest unto your souls. For my yoke is easy and my burden is light."

हे सब परिश्रम करनेवालो और बोझ से दबे हुए लोगो, मेरे पास आओ; मैं तुम्हें विश्राम दूंगा। मेरा जुआ अपने ऊपर उठा लो; और मुझ से सीखो; क्योंकि मैं नम्र और मन में दीन हूँ : और तुम अपने मन में विश्राम पाओगे। क्योंकि मेरा जुआ सहज और मेरा बोझ हलका है। (मैथ्यु, ११, २८-३०)

"तुम परिपूर्ण बनो", "तुम्हारे पापों से मुक्ति दिलाऊँगा," या "मुझ में शरण पाओ" इस प्रकार की भाषा केवल ईश्वर-अवतार के ही मुखसे निकल सकती है, सामान्य संतों के मुख से नहीं। यह आत्मसमर्पण तथा आत्मशोध ही शुद्ध धर्म का शाश्वत सन्देश है। मानव की चिरंतन आध्यात्मिक तृष्णा का तथा उस दिशा में किये प्रयासों का यही अंतिम समाधान है।

आखिर हम जायेंगे तो किसकी शरण में? अपनेही समान किसी अन्य

प्राणी के सामने तो नहीं ही, चाहे समाज में वह कितनाही उच्चपदस्थ या सत्ताधीश क्यों न हो! वह तो मूर्खता ही होगी! हिंदू भक्तिपरम्परा कहती है कि मुमुक्षु के लिए ऐसा कोई पंचभौतिक प्राणी नहीं है जिसकी भक्ति करें या जिसे समर्पित हैं। ब्रह्मसूत्र पर लिखे श्रीभाष्य में श्रीरामानुजाचार्य ने एक पूर्वाचार्य का उद्धरण इस सन्दर्भ में दिया है –

आब्रह्मस्तम्बपर्यन्ताः जगदन्तर्व्यवस्थिताः।
प्राणिनः कर्मजनित संसारवशवर्तिनः।।
यतस्ततो न ते ध्याने ध्यानिनामुपकारकाः।
अविद्यान्तर्गताः सर्वे ते हि संसारगोचराः।।

ब्रह्मदेव से लेकर तिनके तक जितने भी जीवधारी इस परिवर्तनशील दुनिया में हैं, वे सारे अपने कर्मों से उत्पन्न जनन-मरण के (चक्र के) अधीन हैं। ध्यानीजनों के ध्यान का विषय वे नहीं बन सकते, क्योंकि वे अविद्या से जकड़े हुए हैं, संसार (मर्त्य जगत्) के वशीभूत हैं।

उपासना, ध्यान तथा भक्ति के विषय में श्रीरामानुजाचार्य कहते हैं, **उपासनं नाम यथाशास्त्रं उपास्यस्य अर्थस्य विषयीकरणेन सामीप्यम् उपगम्य तैलधारावत् समान-प्रत्यय-प्रवाहेण दीर्घकालं यद आसनं, तद् उपासनम् आचक्षते।** (श्रीभाष्य – १-१-१)

अपने उपास्य के समीप बैठकर (मानसिक रूप से सामीप्य पाकर) शास्त्रोक्त विधिपूर्वक दीर्घ कालतक अविच्छिन्न रूप से – तेल की धारा के समान – आसन जमाये रहना ही उपासना है।

इस प्रकार के ध्यान या उपासना का विषय केवल ईश्वर ही हो सकता है। यह बात उपनिषदों में तथा ईश्वरावतारों द्वारा भी कही गयी है।

यो ब्राह्मणं विदधाति पूर्वं
यो वै वेदांश्च प्रहिणोति तस्मै।
तं ह देवम् आत्मबुद्धिप्रकाशं
मुमुक्षुर्वै शरणमहं प्रपद्ये।। श्वेताश्वतरोपनिषद् ६.१८

जिसने पहले (सृष्टिनिर्मिति के समय) ब्रह्मा को निर्माण किया, जिसने उसके लिए वेद भी प्रकाशित किये; मोक्ष की कामना करनेवाला मैं उसी की शरण में हूँ जो आत्मज्ञान पर प्रकाश डालता है (जिसकी कृपा से आत्मज्ञान प्राप्त होता है।)

आत्मनिर्भरता से आत्मसमर्पण तक की यात्रा

"श्रीकृष्ण कहते हैं, सभी धर्मों का त्याग कर मेरा आश्रय लो।" ईसा मसीह कहते हैं, "जो कोई कष्ट भुगत रहे हों, (चिंता) के बोझतले दबे हो, वे तुम सब मेरी शरण में आओ।" – परंतु यदि सब धर्मो का त्याग ही अंतिम पड़ाव है, तो फिर पहले उन धर्मों का पूर्णतया पालन भी तो आवश्यक है। आत्मसमर्पण का अत्युच्च समाधान पाने योग्य यदि बनना है, तो ये कष्ट निहायत जरूरी हैं। इसलिए अथक परिश्रम कीजिये, अपने सारे कर्तव्यों की पूर्ति कीजिये, स्वयं को विकसित कीजिये तब जाकर भगवच्चरणों की शरण माँगिये। दिनभर ईमानदारी से काम कीजिये, फिर बैठकर ध्यान लगाइये और अपने आप को भगवान् में लीन कीजिये। अन्यथा उस ध्यान का न कोई अर्थ है न कोई मूल्य! पूरा दिन निष्क्रियता में बिताकर ध्यानस्थ हो बैठना निरर्थक है परन्तु सत्कर्मभरी कर्तव्यपूर्ति के बाद ध्यान लगाना सार्थकता की ओर ले जाता है और फलदायी भी होता है। जैसा कि मैं सदैव कहता हूँ, महीनाभर अथवा पूरे वर्ष तक ईमानदारी से सकारात्मक परिश्रम करने के पश्चात् अगर छुट्टी मनायी जाये तो वह लाभदायी भी है, उसका कुछ अर्थ भी है; परन्तु किसी बेरोजगार के लिये छुट्टी कोई अर्थ ही नहीं रखती।

इसलिये जिन नर-नारियों ने अपनी शक्ति तथा सामर्थ्य मानवजाति की सेवा में लगायी हों और जो अंडे से बाहर पड़नेवाले चूज़े के समान सोचते हो कि 'अहम्' रूपी जो कवच पहले उनकी सुरक्षा करता था वही अब दमघोटू बन रहा है, प्रकटीकरण की प्रक्रिया में बाधा डाल रहा है; उन्हीं को विशुद्ध धर्म की अलौकिक लालसा तथा धर्मदृष्टि प्राप्त होती है।

स्वयं को (भगवच्चरणों में) लोप करने की दिव्य अनुभूति होती है, मनुष्यत्व से वे संतत्व की ओर प्रस्फुटित होते जाते हैं।

परंतु वही दिव्यत्व की धारणा किसी नींव का संकेत देती है। क्या है वह नींव? श्रीकृष्ण इसी को 'मनुष्यत्व' (नरत्व) कहते हैं जो मनुष्य के विकास को दो विभिन्न धरातलों पर विस्तारित करती है। एक तो है अल्पात्मा जो स्वयंकेन्द्रित होता है और दूसरा महा-आत्मा जो नैतिक मूल्यों से परिपक्व होता है। संस्कृत में इन्हीं को 'व्यक्तित्व' तथा 'विकसित व्यक्तित्व' कहा जाता है। व्यक्तित्व में व्यक्ति की अपनी अलग पहचान, उसके स्वतंत्र अस्तित्व की उपलब्धि अनुस्यूत है तो दूसरा (विकसित व्यक्तित्व) सामाजिक तथा मानवीय दायित्व की कक्षा को छू सकनेवाली उपलब्धि से परिपूर्ण होता है।

जब कोई व्यक्ति भगवान् को सर्वस्व समर्पित करता है, तब वह सन्त बन जाता है। संत वही है जिसके हृदय में ईश्वर आविर्भूत होता है और जो ईश्वरमय बन जाता है। सही अर्थ में मानवी जीवन की वही सार्थ, अत्युच्च, परमोत्कृष्ट अवस्था है। कई महान् संतों ने अपना सर्वस्व ही नहीं, अपना समूचा अस्तित्व भी – ईश्वरचरणों पर न्यौछावर कर दिया है। संत पॉल (Paul). कहते हैं "मैं मैं नहीं हूँ, ये तो मेरे अंदर बसनेवाले प्रभु ईसा है।" भारत में भी ईश्वरलीन भक्तों ने यही अकिंचनभाव, तदीयता में स्वयं को भूल जाना अनुभव किया है। नारदभक्तिसूत्र में तदीयता की यही अभिव्यक्ति है कि "मैं उसका (प्रभु का) हूँ।" यही है शरणागति – किन्तु कितनी विलक्षण है यह शरणागति! शक्ति का, सम्पूर्णता का, विजयिता का समर्पण है यह! यही अध्यात्मजीवन का परमोच्च संगीत है, ऊर्जा तथा धैर्यशालिता का स्रोत है और इसमें सामर्थ्य का स्पर्श है। जो भी व्यक्ति यह कर सकेगा, वही संस्कृत भाषा में "धीर" कहा गया है।

यदि जीवन पाने के लिए बल की आवश्यकता है, तो उस जीवन से विरक्त होने हेतु तो उससे भी अधिक बल आवश्यक है। संपत्ति पाने हेतु शक्ति चाहिये, तो उस संपत्ति का त्याग करने के लिए उससे भी अधिक

शक्ति चाहिये। इसीलिये अध्यात्मसाधना में ईश्वरीय कृपा, आत्मसमर्पण और ईश्वरशरणता सही अर्थ में तभी प्राप्त होती है जब साधक चारित्र्यबल से परिपूर्ण हो। यह बल न बाहुबल है न बुद्धि का बल, न भौतिक इच्छा हेतु का अन्य कोई बल अपितु यह बल का वह सूक्ष्मतम रूप है जो "योगबल" कहलाता है, जो अध्यात्मवृद्धि के साथ नरनारियों में अपने आप प्रकट होता है। फिर इसमें उनका सामाजिक या आर्थिक स्तर कोई माने नहीं रखता। यह योगबल पाने के पश्चात् ही व्यक्ति संपूर्ण मुक्तावस्था का आत्मिक मुक्ति का – और आत्मा को परमेश्वर के हवाले करने के बाद मिलनेवाले निर्व्याज आनंद का अनुभव कर पाता है जिससे निरागस शिशु जैसी उत्स्फूर्तता और अकृत्रिमता का उद्गम होता है।

सही आत्म समर्पण – दो अनूठे उदाहरण

अत: जब कोई दुर्बल व्यक्ति कहता है कि "मैं स्वयं को भगवान के हवाले करता हूँ, मैं तो कुछ हूँ ही नहीं, तुच्छ हूँ।" तो उसके शब्दों में सच्चाई नहीं लगती। उन शब्दों से उसका असंयत, असंस्कृत "अहं" झलकता है, उसका विनय झूठा ज्ञान पड़ता है। भारत में ऐसे बहुतसे बनावटी नम्र लोग पवित्रता का मुखौटा लगाये घूमते हैं। ऐसी शरणागति में सच्चाई नहीं है। परंतु जब श्रीरामायण के हनुमान जैसा भक्त कहता है, "मेरा सर्वस्व श्रीरामजी के चरणों में समर्पित है, मैंने प्रभु को अपने हृदय में बसा लिया है, मैं उनका मात्र एक तुच्छ सेवक हूँ।" तो इन शब्दों में सच्चाई झलकती है क्योंकि हनुमान् वीर थे, निर्भय थे, अत्यंत बुद्धिमान् तथा कार्यक्षम थे। भारत के रामनामस्तोत्र में उन्हें बुद्धिमतां वरिष्ठ (बुद्धिमानों में सर्वश्रेष्ठ) कहा गया है।

आज के युग में अपनी अल्प आयु के दस वर्षों के छोटेसे किन्तु प्रभावी कालखंड में पूर्व तथा पश्चिम में अपनी प्रतिभा की अमिट छाप छोड़नेवाले स्वामी विवेकानंद ही कह सके कि "श्रीरामकृष्णजी पर मैंने सर्वस्व न्यौछावर कर दिया है।" अमरीका तथा भारत में दिये हुए उनके व्याख्यानों

में वस्तुतः ऐसे अनेक अद्भुत अंश हैं जिनमें से उनकी हनुमानसदृश प्रामाणिक शरणागति छलक पड़ती है। भारत के संतों पर के उनके, मद्रास में दिये हुए सुविख्यात व्याख्यानों के अंतिम भाग में जब वे मध्यकाल के श्रीशंकर तथा श्रीचैतन्य पर बोल रहे थे; निष्कर्ष पर आते हुए अपने गुरु श्रीरामकृष्ण का हृदयस्पर्शी निर्देश उन्होंने किया था,

"भाइयो, तुम यदि इसमें विधाता का हाथ नहीं देखते तो अन्धे हो, सचमुच जन्मान्ध हो। यदि समय मिला, यदि दूसरा अवसर मिल सका तो इनके सम्बन्ध में विस्तारपूर्वक कहूँगा। इस समय केवल इतना ही कहना चाहता हूँ कि यदि मैंने जीवन भर में एक भी सत्य वाक्य कहा है तो वह उन्हींका, केवल उनका ही वाक्य है; पर यदि मैंने ऐसे वाक्य कहे हैं, जो असत्य, भ्रमपूर्ण अथवा मानव जाति के लिए हितकारी न हों, तो वे सब मेरे ही वाक्य हैं और उनके लिए पूरा उत्तर-दायी मैं ही हूँ।" (विवेकानन्द साहित्य, पंचम खण्ड, तृतीय संस्करण, पृष्ठ १६२)

आत्मनिर्भरता की शक्ति तथा आत्मसमर्पण का दैवी बल

आत्मसमर्पण के दर्शन का अर्थ विशद करते हुए तथा संतत्व को आत्मनिर्भरता का अत्युच्च बिन्दु बताते हुए नर्म विनोद का प्रश्रय लेकर स्वामी विवेकानन्द ने कहा है –

"हर वर्ष मुस्लिमों का एक पवित्र पर्व होता है जब वे बहुधा बकरे की बलि चढ़ाते हैं। कुछ चालाक मुसलमान महीना भर पहले ही बकरा खरीदकर उसे खूब खिलाते हैं ताकि बलि चढ़ाते समय उससे अधिक मांस मिले। अध्यात्मसाधना भी ऐसी ही है। पहले स्वयं को पुष्ट कर लीजिये, आश्वस्त कर लीजिये और बाद में अपने आप को समर्पित कीजिये। परा शक्ति के द्वारा भगवच्चरणों में अपनी बलि चढ़ाइये – अपने अस्तित्व को लीन कीजिये यही सही वृत्ति है, सही तरीका है। पहले मनुष्यत्व आता

है, फिर संतत्व या देवत्व! अपने संतत्व को मनुष्यता की नींव पर खड़ा करो, तभी वह संतत्व शक्तिशाली होगा। अत: मेहनत कीजिये, अपना व्यक्तित्व सुसंपन्न कीजिये, और बाद में जब आप सुदृढ़ और अध्यात्मप्रगल्भ बनेंगे तब आपको अत्यधिक धैर्य तथा परा शक्ति की ऐसी सहायता मिलेगी कि आप अनुभव करेंगे, बोल पड़ेंगे, "मैं हूँ ही नहीं, बस तू ही तू है!" "Not I, but thou; Thy will be done!"

गीता के अंतिम – अठारहवें अध्याय में श्रीकृष्ण द्वारा प्रतिपादित शरणागति या "ईश्वरीय कृपा" के संदेश का यही अर्थ है, जो कि धर्म का चरम संदेश है। वस्तुत: विश्वरूपदर्शन के समय श्रीकृष्ण ने पहले ही चेतावनी दी है, "दृढ़ बनो, स्वयं में विश्वास रखो और अपनी समस्याओं का सामना धैर्य के साथ करो –

तस्मात्त्वमुत्तिष्ठ यशो लभस्व
जित्वा शत्रून् भुंक्ष्व राज्यं समृद्धम्। भगवद्गीता ११.३३

(कुंठा के ऊपर) उठो, अपने शत्रुओं को (बाधाओं को) जीतकर अपने समृद्ध राज्य (पौरुष) का उपभोग करो।

इससे पहले, सातवें अध्याय के चौदहवें श्लोक में श्रीकृष्ण ने आशीर्वाद तथा आश्वासन का संदेश देते हुए ईश्वरीय कृपा की ओर जोरदार प्रथम संकेत किया ही है। मनुष्य अपने अहंकार तथा पंचेन्द्रियों के मायाजाल से घिरा हुआ है। इस भ्रान्त अवस्था में वह बचकाने कृत्य करता है और दुख या दर्द का अनुभव करता है। फिर समाज में भी दुखदर्द बिखेरता रहता है। यही 'माया' है जो उसे अपने सत्य स्वरूप को, तथा ब्रह्माण्ड के स्वामी उस ब्रह्म के साथ उसके अटूट सम्बन्ध को भी भुलाने को बाध्य करती है। केवल ईश्वरी कृपा ही माया के बन्धन से उसे मुक्ति दिलाकर भगवल्लीन करा सकती है।

दैवी ह्येषा गुणमयी मम माया दुरत्यया।
मामेव ये प्रपद्यन्ते मायामेतां तरन्ति ते।। भगवद्गीता ७.१४

यह मेरी ही दैवी माया है जो (सत्त्व, रजस्, तमस्)

इन गुणों से युक्त है, जिसे पार कर जाना अत्यंत दुष्कर है।
इस माया को वे ही लाँघ सकते हैं जो मेरा आश्रय लेते हैं।

किन्तु अब अंत में भगवान् की गीता में कुछ अलग ही स्वरावली है। जैसा हम देखते हैं, वे पहले ध्रुपद को ही अंतिम अंतरे के रूप में प्रस्तुत करते हैं कि अब मैं तुम्हें एक गुह्यतम बात बताता हूँ। सारे पुरुषार्थों को पाने के पश्चात् कहो और अनुभव करो कि मेरे अस्तित्व के साथ मेरा सर्वस्व ईश्वरार्पण है। न मैं कुछ हूँ, न मेरा कुछ है।"

यह बड़ी गरिमामयी, राजसी शरणागति है। कोई दुर्बल और डरपोक सैनिक यदि प्रथम युद्धप्रसंग में ही समर्पित होकर शत्रु का बंदी बन जाता है तो यह कोई सद्गुण नहीं है। पूरी शक्ति लगाकर प्रतिकार कीजिये, अपना पराक्रम दिखाइये, फिर यदि परिस्थिति ही वैसी आ जाये तो शरण जाइये। तब जगत् में सम्मान पायेंगे। ग्रीक इतिहास में प्राचीन भारत के साथ ग्रीस के संबंधों के विषय में लिखा है कि जब सिकंदर ने भारत के वायव्य प्रांत पर आक्रमण किया, तब पंजाब में पुरुवंशीय राजा पोरस झेलम-चिनाब के दोआब में शासन करता था। बड़ा शूर तथा बलिष्ठ राजा था। जगज्जेता। सिकंदर का मुकाबला उसने पूरी शक्ति के साथ किया। फिर भी उसे मात खानी पड़ी क्योंकि सिकंदर की रणनीति अधिक प्रभावी थी। बंदी बनाकर पोरस को सिकंदर के सम्मुख लाया गया। थोड़े वार्तालाप के पश्चात् सिकंदर ने पूछा, "आप के साथ कैसा बर्ताव किया जाये?" – पूरी गरिमा के साथ पोरस का उत्तर था, "वैसा ही, जैसा एक राजा का दूसरे राजा के साथ होता है।" इस उत्तर से सिकंदर अत्यंत प्रभावित हुआ और उसके साथ पूरे आदर-सम्मान से पेश आया।

धार्मिक जीवन में भी, दैनिक व्यवहार के समान, ईश्वर उसी का सम्मान करता है; जिसने सुदृढ़ बनने हेतु अथक परिश्रम किये हो, अपने ईश्वरप्रदत्त बल को परिश्रमपूर्वक बढ़ाया हो और ईश्वरार्पण करने हेतु अधिक शक्ति की जो कामना रखता हो! कितना महान् है यह समर्पण! ऐसी शरणागति के लिए कितना कठोर बल संजोना पड़ता है। टैगोर की गीतांजलि की

प्रसिद्ध पँक्तियाँ हैं –

दे दो मुझे वह बल
कि मैं सुखको, दुखको सहजता से झेल पाऊँ
दे दो मुझे वह बल
कि मेरी प्रीति सेवा में फलीभूत हो।
दे दो मुझे बल कि निर्धन को दूर न करूँ
न घुटने टेक दूँ किसी उद्दंड सत्ता के सम्मुख
दे दो मुझे वह रह बल
कि उठ जाये मेरा मन दैनंदिन त्रासदी से परे

इस बलोपासना के पश्चात् अंततोगत्वा परा शक्तियुक्त उस आध्यात्मिकता का संगीत उभरता है –

दे दो मुझे वह बल
कि मेरी शक्ति प्रेमपूर्वक निछावर कर सकूँ
तुम्हारी इच्छा के लिए! (गीतांजलि, रवीन्द्रनाथ टैगोर, गीत ३६)

यह इंगित है उस महत्तर शक्ति की ओर, जो साक्षात् भगवान् से प्राप्य है, जो मानव के अंदर ही बसती है, जिसे वेदान्तानुसारी महानिर्वाण तंत्र में भयानां भयम् कहा गया है (III ६१) और श्रीमद्भागवत के मत में "यद बिभेति स्वयं भयम्।" इन शब्दों में अंकित है। जब कायिक, मानसिक, बौद्धिक शक्ति से और क्षमताओं से ओतप्रोत नर-नारियाँ भगवान् के सम्मुख उपस्थित होकर कहेंगी, "यह सब तेरा ही है प्रभु, मेरा कुछ भी नहीं। तू ही सब कुछ है।" तब उस अंतिम समर्पण में कितनी सच्ची मानवीय गरिमा होगी!

भक्त बनो मूर्ख न बनो!

श्रीरामकृष्ण एक बंगाली गीत की पंक्ति सुनाया करते थे जिसका अनुवाद इस प्रकार है "मैं किसी को मुक्ति देने में नहीं हिचकता, परंतु भक्ति की अनुमति किसी को भी देते समय अत्यधिक सतर्क रहता हूँ।" – बड़ा विचित्र कथन है! स्थूल रूप से भक्ति की अपेक्षा मुक्ति का मूल्य

इन गुणों से युक्त है, जिसे पार कर जाना अत्यंत दुष्कर है।
इस माया को वे ही लाँघ सकते हैं जो मेरा आश्रय लेते हैं।

किन्तु अब अंत में भगवान् की गीता में कुछ अलग ही स्वरावली है। जैसा हम देखते हैं, वे पहले ध्रुपद को ही अंतिम अंतरे के रूप में प्रस्तुत करते हैं कि अब मैं तुम्हें एक गुह्यतम बात बताता हूँ। सारे पुरुषार्थों को पाने के पश्चात् कहो और अनुभव करो कि मेरे अस्तित्व के साथ मेरा सर्वस्व ईश्वरार्पण है। न मैं कुछ हूँ, न मेरा कुछ है।''

यह बड़ी गरिमामयी, राजसी शरणागति है। कोई दुर्बल और डरपोक सैनिक यदि प्रथम युद्धप्रसंग में ही समर्पित होकर शत्रु का बंदी बन जाता है तो यह कोई सद्गुण नहीं है। पूरी शक्ति लगाकर प्रतिकार कीजिये, अपना पराक्रम दिखाइये, फिर यदि परिस्थिति ही वैसी आ जाये तो शरण जाइये। तब जगत् में सम्मान पायेंगे। ग्रीक इतिहास में प्राचीन भारत के साथ ग्रीस के संबंधों के विषय में लिखा है कि जब सिकंदर ने भारत के वायव्य प्रांत पर आक्रमण किया, तब पंजाब में पुरुवंशीय राजा पोरस झेलम-चिनाब के दोआब में शासन करता था। बड़ा शूर तथा बलिष्ठ राजा था। जगज्जेता। सिकंदर का मुकाबला उसने पूरी शक्ति के साथ किया। फिर भी उसे मात खानी पड़ी क्योंकि सिकंदर की रणनीति अधिक प्रभावी थी। बंदी बनाकर पोरस को सिकंदर के सम्मुख लाया गया। थोड़े वार्तालाप के पश्चात् सिकंदर ने-पूछा, "आप के साथ कैसा बर्ताव किया जाये?" – पूरी गरिमा के साथ पोरस का उत्तर था, "वैसा ही, जैसा एक राजा का दूसरे राजा के साथ होता है।" इस उत्तर से सिकंदर अत्यंत प्रभावित हुआ और उसके साथ पूरे आदर-सम्मान से पेश आया।

धार्मिक जीवन में भी, दैनिक व्यवहार के समान, ईश्वर उसी का सम्मान करता है; जिसने सुदृढ़ बनने हेतु अथक परिश्रम किये हो, अपने ईश्वरप्रदत्त बल को परिश्रमपूर्वक बढ़ाया हो और ईश्वरार्पण करने हेतु अधिक शक्ति की जो कामना रखता हो! कितना महान् है यह समर्पण! ऐसी शरणागति के लिए कितना कठोर बल संजोना पड़ता है। टैगोर की गीतांजलि की

प्रसिद्ध पँक्तियाँ हैं –

दे दो मुझे वह बल
कि मैं सुखको, दुखको सहजता से झेल पाऊँ
दे दो मुझे वह बल
कि मेरी प्रीति.सेवा में फलीभूत हो।
दे दो मुझे बल कि निर्धन को दूर न करूँ
न घुटने टेक दूँ किसी उद्दंड सत्ता के सम्मुख
दे दो मुझे वह रह बल
कि उठ जाये मेरा मन दैनंदिन त्रासदी से परे

इस बलोपासना के पश्चात् अंततोगत्वा परा शक्तियुक्त उस आध्यात्मिकता का संगीत उभरता है –

दे दो मुझे वह बल
कि मेरी शक्ति प्रेमपूर्वक निछावर कर सकूँ
तुम्हारी इच्छा के लिए! (गीतांजलि, रवीन्द्रनाथ टैगोर, गीत ३६)

यह इंगित है उस महत्तर शक्ति की ओर, जो साक्षात् भगवान् से प्राप्य है, जो मानव के अंदर ही बसती है, जिसे वेदान्तानुसारी महानिर्वाण तंत्र में भयानां भयम् कहा गया है (III ६१) और श्रीमद्भागवत के मत में "यद बिभेति स्वयं भयम्।" इन शब्दों में अंकित है। जब कायिक, मानसिक, बौद्धिक शक्ति से और क्षमताओं से ओतप्रोत नर-नारियाँ भगवान् के सम्मुख उपस्थित होकर कहेंगी, "यह सब तेरा ही है प्रभु, मेरा कुछ भी नहीं। तू ही सब कुछ है।" तब उस अंतिम समर्पण में कितनी सच्ची मानवीय गरिमा होगी!

भक्त बनो मूर्ख न बनो!

श्रीरामकृष्ण एक बंगाली गीत की पंक्ति सुनाया करते थे जिसका अनुवाद इस प्रकार है "मैं किसी को मुक्ति देने में नहीं हिचकता, परंतु भक्ति की अनुमति किसी को भी देते समय अत्यधिक सतर्क रहता हूँ।" – बड़ा विचित्र कथन है! स्थूल रूप से भक्ति की अपेक्षा मुक्ति का मूल्य

अधिक आँका जाता है क्योंकि मुक्ति पाने में अधिक साधना की, कष्टों की आवश्यकता होती है। परंतु यह पंक्ति तो कुछ विचित्र ही भावना दर्शाती है। क्या होगा इसका अर्थ? किसी अन्य संत ने इसका विनोदपूर्ण विश्लेषण किया है – "किसी को मुक्ति प्रदान करने पर वह साधक मुझसे कुछ माँगने कभी नहीं आयेगा, परंतु यदि मैं भक्ति का परामर्श देता हूँ तो दूसरेही दिन से वह तंग करने लगेगा कि 'मुझे नौकरी दिला दो, पुत्र दो, संपत्ति दो, यह दो और वह दो।" यह सब आत्मविश्वास के अभाव में और आत्मनिर्भरता की शक्ति में श्रद्धा न होने के कारण होता है। आजीवन भगवान् को सताना! जो भक्ति पुरुषार्थ की नींव पर खड़ी न हो उसकी यही तो वृत्ति होगी। क्योंकि दुर्बल जन ही इसी मनोवृत्ति का आश्रय लेते हैं। उनकी भक्ति का अर्थ यह हुआ – कि भगवान की दी हुई शक्ति अथवा अवसरों का लाभ तो वे उठाते नहीं, और भगवान् पर सदैव बोझ ही बढ़ाते रहते हैं। इसीलिए भगवान् भक्ति की अनुमति नहीं देते। श्रीरामकृष्ण कहते थे, "भक्त बनो, बोका मत बनो।" – बंगला भाषा में 'बोका' का अर्थ है "मूर्ख!"

भगवद्गीता के संगीत की हर धुन चाहे वह व्यावहारिक धरातल पर हो या आध्यात्मिक, बल तथा निर्भयता का संदेश उसमें कूट कूट कर भरा है। चाहे दैनंदिन जीवन हो या परमार्थसाधना, वेदांत मानव को शक्तिप्रदर्शन के लिये ही प्रेरित करता है। गीता तथा वेदान्तग्रंथों ने राग-भय-क्रोध को नैतिक तथा आध्यात्मिक उन्नतिपथ का रोड़ा माना है। अत: उनका त्याग करने की चेतावनी मानव को दी है। वेदान्त के अनुसार दुर्बलता और भय कहीं भी प्रशंसनीय नहीं। गीता कहती है कि सर्वप्रथम "अभयनम्" – निडरता का अर्जन करो। उपनिषदों में ब्रह्म को – परम सत्ता को – ईश्वर को – "अभय" कहकर ही वर्णित किया है। जिसने 'ब्रह्म' को पा लिया, निर्भीकता की अवस्था प्राप्त कर ली। अभयं वै प्राप्तोऽसि।

आत्मनिर्भरता तथा आत्मसमर्पण के पीछे ईश्वरी कृपा का अस्तित्व

इस महान् दर्शन के परिप्रेक्ष्य में गीता मानव के समूचे जीवन को

व्यापती है। जीवन का प्रारंभ आप बाह्य जगत् के साथ व्यवहार करनेवाले मनुष्य के रूप में कहते हो – तब तक आप ने ईश्वर को देखा नहीं होता। आप समाज के एक घटक हैं, सामाजिक सन्दर्भ को ध्यान में रखते हुए अन्यों के साथ व्यवहार करते हैं और इस प्रक्रिया में पुरुषार्थ तथा चारित्र्य का विकास करते हैं। फिर धीरे धीरे, उसी में रहकर, उसी के द्वारा, विवेक तथा सत्यप्रीति की सहायता से आप का स्तर ऊँचा उठता जाता है। जब मन शुद्ध तथा दृढ़ बनेगा, धीरे धीरे उसे किसी शुद्धतर, गहनतर स्पर्श की अनुभूति होगी, अन्तस्तल में दिव्य स्पन्दनों का अनुभव होगा। केवल परिपक्व, बलशाली मन ही उन तक पहुँचेगा, उन्हें समझ पायेगा और लाभान्वित होगा। विवेकानन्द ने कहा है कि "बब्बर शेर के बल को हाथी ही समझ पायेगा; मच्छर नहीं।"

इन्द्रियों की उपाधि से घिरा हुआ 'अहं' हमारा सही 'स्व'रूप नहीं है। इस 'अहं' के पीछे, इन्द्रियों की समस्त मर्यादाओं से परे है अनंत आत्मा। वही आत्मा हममें है, सबमें है, अमर्याद और अद्वितीय है। 'अहं' का उस आत्मा में पूर्णतया विलीन होना ही मानव का सम्पूर्ण समुन्मेष है। अद्वैतदर्शन के महान मनीषी श्रीशंकराचार्य अपनी विष्णु-षट्पदी में कहते हैं –

सत्यापि भेदापगमे नाथ तवाहं, न मामकीनस्त्वम्।।
सामुद्रो हि तरङ्गो क्वचन समुद्रो हि तारङ्गः।।

समाधि अवस्था में द्वैतभावना का पूर्णतया निरास होने पर भी हे नाथ! मैं तुझमें विलीन हो गया, न कि तू मुझमें! (मैं तुम्हारा हो गया) बात यह है कि लहर समुद्र की होती है, न कि समुद्र लहरों का।

श्रीकृष्णावतार में वही सर्वान्तर्यामी आत्मा गीता में कहती है, (भगवद्गीता अ. १८, श्लो. ६६) कि 'सारे धर्मों का त्याग कर तू केवल मुझमें विलीन हो जा! मैं समस्त पापों से तुझे छुटकारा दूँगा, चिंता मत कर। – इसके पूर्व कहा है –

ईश्वरः सर्वभूतानां हृद्देशेऽर्जुन तिष्ठति। भगवद्गीता १८.६१

हे अर्जुन, समस्त प्राणियों के अन्तस्तल में ईश्वर सदैव विद्यमान है।

सत्य-शिव-सुन्दर का अनन्त स्रोत भगवान् श्रीकृष्ण अर्जुन के बहाने सभी को उपदेश देता है कि सभी प्राणिमात्रों के हृदयों में उनके 'अहं' के पीछे सदैव मैं बसता हूँ। इन प्राणियों के व्यवहार में मैं पहले दखल नहीं देता, क्योंकि मैं चाहता हूँ कि प्रथम उनके 'अहं' का विकास हो जाय। परंतु साक्षिभूत होकर मैं सदैव उपस्थित रहता हूँ और जानता हूँ कि मेरा भक्त जब अपने 'अहं' तथा उसकी सामर्थ्य को अपने अंकित करके 'अधिकारी' बनेगा, तब उसकी अध्यात्मसाधना के एक विशिष्ट बिंदु पर वह निश्चित ही मेरी ओर झुकेगा और मुझ ही में निर्वाण तथा कैवल्य पायेगा। फिर तो स्वाभाविक रूपसे, उत्स्फूर्तता के साथ आत्मसमर्पण हो ही जायेगा। इसीलिये श्रीकृष्ण ने उस पंक्ति में कहा है कि ईश्वर सभी के अंतःकरण में विद्यमान रहता है। सभी प्राणियों की समस्त गतिविधियाँ उसे ज्ञात रहती है। इस सत्य को प्राणिमात्र भले ही जान न पाये; वह जानता है। गीता के पंचम अध्याय के अंतिम श्लोक में उसने कहा है,

भोक्तारं यज्ञतपसां सर्वलोकमहेश्वरम्।
सुहृदं सर्वभूतानां ज्ञात्वा मां शान्तिमृच्छति।। भगवद्गीता ५.२९

जो मुझे यज्ञयाग या तपस्या के फलों के भोक्ता के रूप में, समूचे ब्रह्माण्ड के स्वामी के रूप में तथा प्राणिमात्र के हितैषी के रूप में जानता है, शान्ति पाता है।

परन्तु इस सत्य का ज्ञान न होने से मानव बहुधा अपने आप को विवश, अशान्त तथा चिन्ताग्रस्त पाता है। श्रीरामकृष्ण कहते हैं, कि ईश्वर सभी के भीतर है, परन्तु सारे मानव उसके भीतर नहीं है, इसीलिए मनुष्य दुख पाता है।

मानव द्वारा दिव्यत्व की खोज तथा ईश्वर द्वारा उसका प्रत्युत्तर 'मुण्डकोपनिषद्' में दो पक्षियों के रूपक के साथ बड़े ही अनूठे ढंग से प्रस्तुत किया गया है।

द्वा सुपर्णा सयुजा सखाया
समानं वृक्षं परिषस्वजाते।
तयोरन्यः पिप्पलं स्वादु अत्ति
अनश्नन्नन्यो अभिचाकशीति।। मुण्डकोपनिषद् ३.१.१

सुन्दर पंखोंवाले, सदैव साथ रहनेवाले दो पक्षी एकही वृक्ष का आश्रय लिये हुए हैं। उनमें से एक तो उस वृक्ष के रुचिकर फल खाता है (या कडवे-मीठे स्वाद के फल खाता है), तो दूसरा बिना खाये ही अन्तस्तृप्त है।

समाने वृक्षे पुरुषो निमग्नो
अनीशया शोचति मुह्यमानः।
तुष्टं यदा पश्यत्यन्यमीशम्
अस्य महिमानमिति वीतशोकः।। मुण्डकोपनिषद् ३.१.२

उसी (जीवनरूपी) वृक्ष पर अटका हुआ मनुष्य भ्रमवश स्वयं को विवश मानकर दुखी है। जब वह दूसरे को संतृप्त, स्वाधीन तथा मुक्त देखता है, तब स्वयं को उसी की महिमा मानकर दुखभार से छुटकारा पाता है।

स्वामी विवेकानन्द ने "भारतीय जीवन में वेदान्त का प्रभाव" इस विषय पर भाषण देते हुए उपर्युक्त पंक्तियों से प्रस्तावना करके कहा था,

"समस्त संसार के समग्र दार्शनिक भाव की अत्यन्त पूर्ण अभिव्यक्ति संसार में और कहाँ पाओगे; हिन्दू जाति के समग्र चिन्तन का सारांश, मानव जाति की मोक्षाकांक्षा की समस्त कल्पना जिस प्रकार अद्भुत भाषा में अंकित हुई है, जिस प्रकार अपूर्व रूपक में वर्णित हुई है, ऐसी तुम और कहाँ पाओगे?

"यह चित्र मनुष्य की आत्मा का है। मनुष्य इस जीवन के मीठे और कड़वे फल खाता है, वह धन की खोज में मस्त है, वह इन्द्रिय सुख के पीछे दौड़ता है, सांसारिक क्षणिक

वृथा सुख के लिए उन्मत्त होकर पागल के समान दौड़ता है। उपनिषदों ने एक और स्थान पर सारथि और उसके असंयत दुष्ट घोड़े के साथ मनुष्य के इस इन्द्रिय-सुखान्वेषण की तुलना की है। वृथा सुख के अनुसन्धान की चेष्टा में मनुष्य का जीवन ऐसा ही बीतता है। बच्चे कितने सुनहले स्वप्न देखते हैं; अन्ततः केवल यह जानने के लिए कि ये निरर्थक हैं। वृद्धावस्था में वे अपने अतीत कर्मों की पुनरावृत्ति करते हैं, और फिर भी नहीं जानते कि इस जंजाल से कैसे निकला जाय। संसार यही है। किन्तु सभी मनुष्यों के जीवन में समय समय पर ऐसे स्वर्णिम क्षण आते है – मनुष्य के अत्यन्त शोक में, यहाँ तक कि महा आनन्द के समय ऐसे उत्तम सुअवसर आ उपस्थित होते हैं, जब सूर्य के प्रकाश को छिपानेवाला मेघखंड मानो थोड़ी देर के लिए हट जाता है। उस समय इस क्षणकाल के लिए अपने इस सीमाबद्ध भाव के परे उस सर्वातीत सत्ता की एक झलक पा जाते हैं जो अत्यन्त दूर हैं, जो पंचेन्द्रियाबद्ध जीवन से परे बहुत दूर है, जो इस संसार के व्यर्थ भोग और इसके सुख-दुःख से परे बहुत ही दूर है, जो प्रकृति के उस पार दूर है, जो इहलोक अथवा परलोक में हम जिस सुख-भोग की कल्पना करते हैं, उससे भी बहुत दूर है, जो धन, यश और सन्तान की तृष्णा से भी परे बहुत दूर है। मनुष्य क्षण-काल के लिए दिव्य दृश्य देखकर स्थिर होता है – और देखता है कि दूसरी चिड़िया शान्त और महिमामय है, वह खट्टे या मीठे कोई भी फल नहीं खाती, वह अपनी महिमा में स्वयं आत्मतृप्त है, जैसा गीता में कहा है :

यस्त्वात्मरतिरेव स्यादात्मतृप्तश्च मानवः।
आत्मन्येव च सन्तुष्टस्तस्य कार्यं न विद्यते।। ३.१७

– 'जो आत्मा में रत है, जो आत्मतृप्त है और जो

आत्मा में ही सन्तुष्ट है, उसके करने के लिए और कौन कार्य शेष रह गया है?'

"वह वृथा कार्य करके क्यों समय गँवाये? एक बार अचानक ब्रह्म-दर्शन प्राप्त करने के पश्चात् मनुष्य पुनः भूल जाता है, पुनः जीवन के खट्टे और मीठे फल खाता है – और उस समय उसको कुछ भी स्मरण नहीं रहता। कदाचित् कुछ दिनों के पश्चात् वह पुनः ब्रह्म के दर्शन प्राप्त करता है और जितनी चोट खाता है, उतना ही नीचे का पक्षी ऊपर बैठे हुए पक्षी के निकट आता जाता है। यदि वह सौभाग्य से संसार के तीव्र आघात पाता रहे, तो वह अपने साथी, अपने प्राण, अपने सखा उसी दूसरे पक्षी के निकट क्रमशः आता है। और वह जितना ही निकट आता है, उतना ही देखता है कि उस ऊपर बैठे हुए पक्षी की देह की ज्योति आकर उसके पंखों के चारों ओर खेल रही है। और वह जितना ही निकट आता जाता है, उतना ही रूपान्तरण घटित होता है। धीरे धीरे वह जब अत्यन्त निकट पहुँच जाता है, तब देखता है कि मानो वह क्रमशः मिटता जा रहा है – अन्त में उसका पूर्ण रूप से लोप हो जाता है। उस समय वह समझता है कि उसका पृथक् अस्तित्व भी न था, वह उसी हिलते हुए पत्तों के भीतर शान्त और गम्भीर भाव से बैठे हुए दूसरे पक्षी का प्रतिबिम्ब मात्र था। उस समय वह जानता है कि वह स्वयं ही वही ऊपर बैठा हुआ पक्षी है, वह सदा से शान्त भाव में बैठा हुआ था – यह उसीकी महिमा है। वह निर्भय हो जाता है, उस समय वह सम्पूर्ण रूप से तृप्त होकर धीरे और शान्त भाव में निमग्न रहता है।"

गीता के अन्त में इसी पर बल दिया गया है जब श्रीकृष्ण कहते हैं –

"अभी तक मैंने धर्मशास्त्र में निहित गूढ़-गहन सत्य तुम्हें बताया, अब गूढ़तम सत्य बताऊँगा, वह यही है कि पुरुषार्थ से पूरा बल पाने के पश्चात् अब पूर्ण संतत्व के, देवत्व के अंतिम, उच्चतम स्तर तक उठ जाओ; अपने अहं को, उसकी समस्त शक्तियों, मन:प्रवृत्तियों को मुझे समर्पित करो. मैं तुम्हारी ही अनन्त-असीम आत्मा हूँ। ऐसा कुछ भी शेष न रखो जिसे तुम केवल तुम्हारा कह सको।"

जब 'अहं' का स्वतंत्र अस्तित्व पूर्णतया विनष्ट हो जाता है, तब सब कुछ ईश्वर ही बन जाता है। अन्य कुछ बचता ही नहीं। वही आत्मसमर्पण है, ईश्वरशरणता है और वही है ईश्वरीय कृपा। इस अवस्था में वह कृपा भगवान् से पूर्णतया साधक के अंत:करण में अवतरित होती है। जैसा कि मैंने पहले कहा था, धर्म का अंतिम वचन है संपूर्ण आत्मसमर्पण – जब भक्त स्वयं ईश्वरीय कृपा में सराबोर पाता है। अपने अतीत की ओर सिंहावलोकन करने पर भक्त पाता है कि पुरुषकार की प्रारंभिक अवस्था में यही ईश्वरी कृपा मुझे सदैव संचालित करती थी।

ईश्वरी कृपा की अनुभूति मानव को एक नयी अद्भुत शक्ति प्रदान करती है; सारे अनुभवों को पचाने की और उसके द्वारा नैतिक तथा आध्यात्मिक दृष्टि से अधिक बलशाली बनने की शक्ति! जिस प्रकार पचा हुआ अन्न शरीरबल को बढ़ाता है, परिपक्व ज्ञान भी मानसिक तथा बौद्धिक बल में वृद्धि लाता है। इस परिपक्वता के अभाव में (पचन न होने पर) शरीर के तथा मन के जहरीले तत्त्व बढ़ते हैं और आधियाँ तथा व्याधियाँ घेरती हैं। उसी प्रकार यश-अपयश, सुख-दुख, लाभ-हानि के अनुभवों को पचा लेने से नरनारियों का चारित्र्यबल बढ़ता है और ऐसी आध्यात्मिक परिपक्वता का अभाव उनके चरित्र तथा व्यवहार को विकृत बनाता है। मानव के, उसीके अंदर बसनेवाली (अन्तर्यामी) दिव्य शक्ति के साथ संपर्क से ही यह आध्यात्मिक परिपक्वता जन्म लेती है। श्रीमद्भागवत के अनेक सुंदर श्लोकों में से एक श्लोक ईश्वरीय कृपा के मधुर चारित्र्यफल को प्रस्फुटित करता है। भगवान् विष्णु अपने भक्त से कहते हैं –

जन्मकर्मवयोरूपविद्यैश्वर्यधनादिभिः।
यद्यस्य न भवेत्स्तम्भस्तत्रायं मदनुग्रहः।। भागवत ८.२२.२६

यदि (उच्च कुल में) जन्म, (अच्छे) कर्म, यौवन, सुन्दरता, विद्या सत्ता, धन आदि बातें उसको उद्धत नहीं बनाती, तो (समझ लो कि) यह मेरी ही कृपा है।

भारतीय परम्परा में ईश्वरी कृपा

"विवेकचूड़ामणि" के एक नित्यप्रचलित श्लोक में श्रीशंकराचार्य ने ईश्वरी कृपा की व्यापकता दर्शाते हुए कहा है –

दुर्लभं त्रयमेवैतत् देवानुग्रहहेतुकम्।
मनुष्यत्वं मुमुक्षुत्वं महापुरुष-संश्रयः।। विवेकचूड़ामणि, श्लो. ३

तीन चीजों को प्राप्त करना बड़ा कठिन है। ईश्वरी कृपा से ही वे प्राप्य हैं। वे हैं – मनुष्यजन्म, मोक्ष की कामना तथा महापुरुषों की संगत या उनसे सहायता।

जीवित प्राणियों की हजारों प्रजातियों में प्रत्येक प्रजाति के – उदा. कीटक जाति के करोड़ों प्राणी होते हैं। मनुष्य ही एकमेव ऐसा है कि उसकी एक ही जाति या प्रकार है, जिसमें लगभग ३५० करोड़ व्यक्ति हैं। यही कारण है कि प्रकृति में मानवजाति अजोड़ है। दूसरा अधिक महत्त्वपूर्ण कारण यह भी है – सृष्टि में वही एक है जो प्रकृति को तथा स्वयं को समझ पाने की ऐन्द्रिय क्षमता रखता है, भौतिकता से मुक्ति पाने की क्षमता रखता है। इस प्रकार वेदान्त के अनुसार यह "मनुष्यत्व" ईश्वरी कृपा का प्रथम स्पर्श है।

ऐसे करोड़ों मनुष्यों में गिनती के ही कुछ लोग होते हैं जो अपनी ऐन्द्रिय क्षमता को भवमुक्ति की ओर लगाते हैं। मोक्ष की इस लालसा – मुमुक्षुत्व – को भगवत्कृपा का दूसरा स्पर्श माना गया है।

परंतु मुक्ति का यह मार्ग तो बहुतों के लिए अनजाना है। किसी सक्षम महापुरुष की सहायता तथा पथप्रदर्शन से इस अज्ञात पथ पर भटक जाने

के व्यर्थ परिश्रम बचाये जा सकते हैं। इस क्षेत्र में सक्षमता का अर्थ 'विद्वत्ता' नहीं अपितु "आध्यात्मिक अधिकार" है। उचित समय पर किसी महान् गुरु द्वारा इस प्रकार की सहायता तथा पथप्रदर्शन का लाभ, ईश्वरीय कृपा की तीसरी देन है। लौकिक व्यवहार में भी मानवी प्रयत्नों को किसी सक्षम परामर्शदाता की आवश्यकता रहती ही है। वह अत्यंत लाभदायक भी होती है। फिर जो क्षेत्र मानव के ऐन्द्रिय स्तर से परे हो, बंधनों से मुक्ति दिलानेवाला हो, उसकी खोज में निकले मानव के लिए वह कितनी अधिक लाभदायी सिद्ध होगी। पिंजड़े में कैद चूहा भाग निकलने के लिए अथक परिश्रम करता है – परंतु निकलने का मार्ग ज्ञात न होने के कारण पिंजड़े में ही गोल गोल दौड़ता रहता है और थकता मात्र है। बाहर निकलने का मार्ग है अवश्य, परंतु चूहे को उसका ज्ञान नहीं है। मानव की अवस्था भी वैसी ही है। वह बन्धन में फँसा है – बन्धन से मुक्त होने का मार्ग भी विद्यमान है। श्रीशंकराचार्य ने 'विवेकचूड़ामणि' में बड़े विश्वास के साथ कहा है – **अस्त्युपायो महान् कश्चित् संसार-भय-नाशनः।** यह उपाय उसी को ज्ञात है जिसने उसे अपनाया हो, स्वयं मुक्त हुआ हो। वही अकेला दूसरों को यह मार्ग दिखाने में समर्थ है।

विवेकचूड़ामणि के अंत में शंकराचार्य ने एक शिष्य की अपने गुरु के प्रति भावना दर्शायी है जिनकी कृपा से उसे अध्यात्मज्ञान तथा वैराग्य का लाभ हुआ है –

स्वाराज्यसाम्राज्यविभूतिरेषा
भगवत्कृपाश्रीमहिमाप्रसादात्।
प्राप्ता मया श्रीगुरवे महात्मने
नमो नमस्तेऽस्तु पुनर्नमोऽस्तु।। विवेकचूड़ामणि, श्लो. ५१७

आपकी श्रीमहिमा की कृपा से ही मैंने मुक्ति साम्राज्य का यह वैभव प्राप्त किया है। हे महात्मा गुरुश्री, आप को बारबार प्रणाम।

दैवी कृपाविषयक सत्य के अनेकानेक सुचारु सन्दर्भ श्रीशंकराचार्य

के लेखन में पाये जाते हैं – विशेषतया उनके कई स्तोत्रों में तथा गीताभाष्य में उनके प्रसिद्ध देव्यपराधक्षमापनस्तोत्र में भक्त तथा भगवान् का सम्बन्ध माता-पुत्र जैसा बताया गया है। इस स्तोत्र के एक श्लोक में भक्त के द्वारा ईश्वरी कृपा हेतु प्रार्थना की है –

जगदम्ब विचित्रमत्र किं
परिपूर्णा करुणास्ति चेन्मयि।
अपराध-परम्परावृतं
न हि माता समुपेक्षते सुतम्।। देव्यपराधक्षमापनस्तोत्र

हे जगन्माता, यदि मुझ पर तेरी सम्पूर्ण कृपा है तो इसमें आश्चर्य की क्या बात? अपराधों की मालिका से घिरे हुए पुत्र की भी उसकी माता अवहेलना नहीं करती।

इस स्तोत्र के सारे श्लोकों का वजन इसमें अधिकतया प्रयुक्त इस पंक्ति में है –

कुपुत्रो जायेत, क्वचिदपि कुमाता न भवति।। देव्यपराधक्षमापनस्तोत्र

संतान भले ही कपूत निकले, माँ कभी कुमाता नहीं हो सकती।

इस अज्ञात तत्त्व के गहन रहस्य के सामने मानव एक शिशु मात्र है, चाहे वह कितना ही प्रतिभाशाली, वैज्ञानिक या भाषाविद् क्यों न हो। आंग्ल कवि टेनिसन ने (In Memorium) नामक कृति में इस सत्य को स्पष्टतया हुबहू उजागर किया है जिसका अनुवाद होगा –

देखिये कुछ नहीं है ज्ञात हमें
फिर भी मेरा दृढ़ विश्वास है
कि अंत में – कभी न कभी – सभी के लिए
शुभ
अवतरित होकर ही रहेगा
जो सुदूर है फिर ठंड की हर सिहरन बदल जायेगी बसंत में
यही मेरा सपना है!

किन्तु मैं क्या हूँ?
रात में रोने वाला अबोध शिशु
प्रकाश के लिये रोनेवाला बालक
और मैं रोता हूँ
बिना किसी भाषा के!

श्री अरविन्द के विचार में परामानस योग का प्रथम और अंतिम वचन है शरणागति – दिव्यत्व में आत्मलोप! All India Magazine, Shri Aurobindo Society, Pondicherry, Sept. 1979 में लिखे हुए उनके शब्दों का अनुवाद होगा –

"परामानस योग का प्रथम शब्द भी 'शरणागति' है और अंतिम शब्द भी वही है। दैविक मानसिकता के लिए, परिपूर्णता के लिए, परिवर्तन के लिए स्वयं को पूर्ण रूप से दिव्यत्व को स्वेच्छापूर्वक समर्पित करना ही योग का प्रारंभ है। संपूर्ण समर्पण से ही अंतिम ऊंचाई प्राप्त हो सकती है। जब 'स्व' को पूर्ण रूप से भुला दिया जाये, तभी 'योग' की चरम अवस्था प्राप्त होती है जिसमें परामानसिक दिव्यत्व को सम्पूर्णतया आत्मसात् किया जाता है, व्यक्तित्व में परिपूर्णता आ जाती है, और प्रकृति में पूरा परिवर्तन हो जाता है।

वेदान्तप्रणीत आत्मसमर्पण स्वयं में बसनेवाले ब्रह्म के प्रति समर्पण है, वही परमोच्च विजय भी है। हिन्दु परंपरा के कई सूक्तों ने इसी तथ्य पर बल दिया है। हिन्दू धर्म के लोकप्रिय आख्यान गजेन्द्रमोक्ष का गजेन्द्र स्वयं को मगरमच्छ से बचाने हेतु पुरुषकार की समस्त शक्ति व्यय करने के पश्चात् एक मनोहारी स्तोत्र के माध्यम से ईश्वर की शरण में जाता है। उस सूक्त के दो श्लोक यों हैं –

यस्मिन्निदं यतश्चेदं येनेदं य इदं स्वयम्।
योऽस्मात् परस्माच्च परस्तं प्रपद्ये स्वयंभुवम्।। भागवत,८.३.३

मैं उस स्वयंभू की शरण में हूँ यह सारा ब्रह्मांड जिसमें

है, जिससे है, जिसके द्वारा है, अपितु जो स्वयं ही यह सब कुछ है; तथा जो इस सृष्टि के कारण-परिणामों से भी परे है।

नायं वेद स्वमात्मानं यच्छक्त्याहंधिया हतम्।
तं दुरत्ययमाहात्म्यं भगवन्तमितोऽस्म्यहम्।। भागवत ८.३.२९

जिसकी मायाशक्ति से अहंकाराभिभूत होकर यह मानवप्राणी आत्मस्वरूप को पहचान नहीं पाता, उस अजेय महिमा भगवान् का मैंने प्रश्रय लिया है।

विवेकानन्दरचित उनके गुरु श्रीरामकृष्ण के स्तोत्र में दो श्लोक बड़े ही हृदयस्पर्शी हैं

शक्तिसमुद्रसमुत्थितरङ्गम् दर्शित प्रेमविजृम्भितरङ्गम्।
संशयराक्षसनाशमहास्त्रं यामि गुरुं शरणं भववैद्यम्।।

मैं उस गुरु की शरण में जाता हूँ जो विश्वशक्ति के सागर से उठी एक तरंग है, जो विशुद्ध प्रेम के ही कारण लीला रचाते हैं, संशयरूपी राक्षस को नष्ट करनेवाले शक्तिशाली अस्त्र हैं, और जो भवरोग से उबारनेवाले दैवी वैद्य हैं।

अद्वय-तत्त्व-समाहित-चित्तम् प्रोज्ज्वल-भक्ति-पटावृत-वृत्तम्।
कर्मकलेवरमद्भुतचेष्टम् यामि गुरुं शरणं भववैद्यम्।।

मैं उन्हीं गुरु की शरण में हूँ जिनका चित्त अद्वैतसिद्धान्त में लगा हुआ है, भक्ति के जगमगाते परिधान से जिनका जीवन सुशोभित है, जिनका देह सदैव (परोपकार में) सक्रिय है, जिनकी लीलाएँ अद्भुत हैं, जो भवरोग से उबारनेवाले दैवी वैद्य हैं।

नारदभक्तिसूत्र में विशुद्ध भक्ति के कई उपाय बताये गये हैं और अन्ततोगत्वा ईश्वरीय कृपा को ही प्रमुख उपाय कहा है।

मुख्यतस्तु महत्कृपयैव, भगवत्कृपालेशाद् वा। नारदभक्तिसूत्र-३८

विशुद्ध भक्ति प्रमुखतया महापुरुषों के अनुग्रह द्वारा प्राप्त होती है, अथवा भगवत्कृपा का छोटासा अंश पाने से।

गीता के एक महान् श्लोक द्वारा अपने संतों तथा भक्तों को प्रेरणा मिली है। उस श्लोक में कहा गया है कि जिन्होंने अपने अहंकार को पूर्णतया मिटाकर विशुद्ध भक्ति से शरणागति स्वीकार की है, उनका भगवान् पूरा ख्याल रखते हैं।

अनन्याश्चिन्तयन्तो मां ये जनाः पर्युपासते।
तेषां नित्याभियुक्तानां योगक्षेमं वहाम्यहम्।। भगवद्गीता ९.२२

जो भक्त अनन्य होकर मेरा ध्यान करते हुए मेरी (कर्म या भक्तिरूप) उपासना में लगे हैं, उन सदैव योगावस्था में रहनेवालों के योगक्षेम का भार मैं उठाता हूँ।

महाभारत के एक श्लोक में भी यही भावना अभिव्यक्त है –

मनीषिणो हि ये केचिद् यतयो मोक्षधर्मिणः।
तेषां विच्छिन्नतृष्णानां योगक्षेमवहो हरिः।। शान्तिपर्व, ३४८-७२

उनका योगक्षेम साक्षात् सर्वान्तर्यामी हरि वहन करता है जो ज्ञानी, निग्रही और मोक्षमार्ग पर चलनेवाले हों तथा जिन्होंने तृष्णा को जीत लिया हो।

भारत के भक्तिसाहित्य का बहुप्रतिपादित सिद्धान्त है कि भक्तों की सेवा में भगवान् को आनंद मिलता है। अनेकों लोकप्रिय संतों के जीवन में यह खरा भी उतरा है। आधुनिक काल का जगमगाता उदाहरण है – स्वयं स्वामी विवेकानन्द के जीवन की एक मर्मस्पर्शी घटना। अपने गुरु श्रीरामकृष्ण के देहावसान के पश्चात्, अमरीकागमन के पूर्व तीन साल तक उन्होंने परिव्राजक बनकर भारतभ्रमण किया था। भविष्य की किंचित् भी चिंता किये बिना केवल भगवान् के भरोसे वे खाली हाथ घूमते थे। उस कालावधि का प्रसंग चित्रित है –

उत्तर प्रदेश के ग्रीष्म की वह एक चिलचिलाती दुपहरी थी। स्वामीजी ट्रेन से तारीघाट उतरे। गेरुए रंग का जामा और किसी ने थमाया हुआ पास के ही किसी स्टेशन का तृतीय श्रेणी का टिकट – बस इतनी ही संपत्ति थी उनके पास। कमंडलु

तक नहीं था। पोर्टर ने उन्हें स्टेशन की बरसाती के नीचे रुकने को मना किया। वे तृतीय श्रेणी के यात्रियों के लिए बनाये गये स्थान पर एक खंभे से टिककर जमीन पर ही बैठ गये।

उस भरी भीड़ में केवल उत्तर प्रदेश के एक मध्यवयस्क बनिया का ही निर्देश आवश्यक है जो स्वामीजी के ठीक सामने दरी बिछाकर छाँव में बैठा था। विगत रात जब वे दोनों एक ही डिब्बे के सहयात्री थे, स्वामीजी को भूखा जानकर भी उसने अपने व्यय से खूब माल उड़ाया था। गाड़ी किसी स्टेशन पर रुकती, परंतु स्वामीजी को प्यास से व्याकुल होने पर भी प्यासा ही रहना पड़ता, क्योंकि पानीवाले को देने के लिए उनके पास पैसे नहीं थे। उस बनिया ने अपनी प्यास बुझाने के लिए पानी ख़रीदा, पिया और लगा ताना देने, "देखो, कितना मधुर जल है! तुम संन्यासी हो न! संपत्ति का त्याग कर रखा है! खरीद नहीं सकोगे। सो बिना पानी के ही खुश रहो। मेरे समान तुम भी धन क्यों नहीं कमाते?" – उसको संन्यास से चिढ़ थी। केवल एक कल्पना के पीछे लगकर दुनिया के उपभोग या द्रव्यार्जन से मुँह मोड़ लेने में उसे विश्वास नहीं था। उसके मतानुसार संन्यासी ने तो भूखा ही रहना चाहिये था। जब वे दोनों तारीघाट उतरे तो उसने बड़े परिश्रमपूर्वक, बहुत सी दलीलों, उदाहरणों के साथ स्वामीजी को समझाने का प्रयास किया कि उसके पास जो कुछ भी है, उसकी योग्यता के कारण है। अब स्वामीजी चिलचिलाती धूप में थे, तो वह छाँव में। "यहाँ देखो" उसने मुस्कान के साथ तुच्छतापूर्वक फिर से कहना प्रारंभ किया, "मैं कितनी बढ़िया पूरियाँ और लड्डू खा रहा हूँ। तुम्हें तो धन कमाने की चिंता ही नहीं, सो तुम्हें यहीं नंगी जमीन पर भूखे पेट और प्यासे गले रहकर संतोष करना पड़ेगा।" – स्वामीजी शांत थे। उनके चेहरे पर एक भी शिकन

नहीं थी।

इतने में वहीं का एक निवासी दायें हाथ में बड़ासा बक्सा और लोटा लिये, बायी बगल में दरी दबाये, बायें हाथ में पानी की सुराही लिये वहाँ आ धमका। किसी साफ-सुथरे स्थान पर उसने दरी बिछाई, सारी वस्तुएँ उसपर रखीं और स्वामीजी को पुकारने लगा, "आइये बाबाजी, मैं भोजन लाया हूँ, स्वीकार कीजिये।" स्वामीजी इतने आश्चर्य में पड़ गये कि कहा नहीं जा सकता। क्या अर्थ होगा इसका? कौन है यह नवागत? उस चिड़चिड़े बनिया की मुद्रा भी बदल चुकी थी। मुख पर अचंभे के भाव थे। नवागत मनाता ही रहा, "आइये बाबाजी, आपको भोजन करना ही पड़ेगा।"

"आपकी शायद कोई गलती हो रही है मित्र! शायद आप मुझे दूसरा कोई समझ बैठे हैं। मुझे नहीं लगता इसके पूर्व हम कभी मिले भी हैं।" स्वामीजी ने कहा।

"नहीं नहीं! आप वही बाबाजी हैं जिन्हें मैंने देखा है।" वह कहता ही रहा।

"क्या मतलब? कब देखा है मुझे आपने?" स्वामीजी की उत्सुकता जाग उठी। वह चिढ़ानेवाला बनिया मुँह बाये यह सब देख रहा था।

"मैं एक मिठाईवाला हूँ। दोपहर के भोजन के पश्चात् सदा की तरह मेरी आँख लग गयी। सपने में प्रभु राम आये और आपकी ओर निर्देश करके कहा कि "कल से मेरा यह भक्त भूखा-प्यासा होने से मैं व्याकुल हूँ। शीघ्र कढ़ी-पूरी बनाकर रेल्वे स्टेशन ले जाओ। साथ में मिठाई, ठंडा जल और दरी भी ले जाना।" – मैं जग तो गया किन्तु साधारण सपना समझकर, करवट बदलकर फिर सो गया। परंतु प्रभु रामजी फिरसे आये और इस समय तो झकझोर कर मुझे जगाया उन्होंने।

फिर तो मैंने फुर्ती से कढ़ी बनायी, पूरियाँ उतारी, सुबह की बनायी हुई मिठाई साथ में रखी, ठंडा पानी लिया, दूकान से दरी उठायी और दौड़ता हुआ सीधे यहाँ आया। दूर से ही आप को पहचान लिया। अब आइये और तुरन्त भोजन कीजिये, जब तक गरम है। आप बहुत भूखे होंगे।'' –

स्वामीजी की उस समय की भावनाएँ आप जान सकते हैं। अश्रुपुरित नेत्रों से उन्होंने प्यार से उस भोलेभाले यजमान को धन्यवाद दिये। परंतु उस दयालु ने इन धन्यवादों को भी अस्वीकार किया।

''ना, ना बाबाजी! मुझे धन्यवाद मत दीजिये। यह सारी तो प्रभु रामजी की इच्छा है।''

वह चिढ़ानेवाला बनिया इस घटना से अंदर तक हिल गया और अपने कठोर वचनों के लिये स्वामीजी से क्षमा माँगते हुए उसने उनकी चरणधूलि माथे लगायी। (Life of Swami Vivekananda by His Eastern and Western Disciples – १९४९ का संस्करण – पृष्ठ २५९-२६१)

''वार्तालाप एवं संलाप'' में स्वामी विवेकानन्द ने ईश्वरी कृपा की ऐसी स्वानुभूतियाँ बतायी हैं जैसा कि 'गीता' में आश्वासन है – **योगक्षेमं वहाम्यहम्।**

''प्रभु की कृपा का परिचय इस जीवन में बहुत पाया। वे ही तो पीछे खड़े होकर इन सब कार्यों को करा रहे हैं। जब भूख से कातर होकर वृक्ष के नीचे पड़ा रहता था, जब कौपीन बाँधने को वस्त्र तक न था, जब कौड़ीहीन होकर भी पृथ्वी का भ्रमण करने को कृतसंकल्प था, तब श्रीगुरुदेव की कृपा से सदा मैंने सहायता पायी। फिर जब इसी विवेकानन्द के दर्शन करने के निमित्त शिकागो के रास्तों पर भीड़ में धक्कम-धक्का हुआ था; जिस सम्मान का शतांश भी प्राप्त करने पर साधारण मनुष्य उन्मत्त हो जाते हैं, श्रीगुरुदेव की कृपा से उस

सम्मान को भी सहज में पचा गया। ...

"दुर्योधन ने भी विश्वरूप देखा था, अर्जुन ने भी देखा था। अर्जुन को विश्वास हुआ किन्तु दुर्योधन ने उसे जादू समझा! यदि वे ही न समझायें तो और किसी प्रकार से समझने का उपाय नहीं है। किसी किसी को बिना कुछ देखे सुने ही पूर्ण विश्वास हो जाता है और किसी को बारह वर्ष तक प्रत्यक्ष सामने रहकर नाना प्रकार की विभूतियाँ देखकर भी सन्देह में पड़ा रहना होता है। सारांश यह है कि उनकी कृपा चाहिए परन्तु लगे रहने से ही उनकी कृपा होगी।

शिष्य – महाराज, कृपा का क्या कोई नियम है?

स्वामीजी – है भी और नहीं भी।

शिष्य – यह कैसे?

स्वामीजी – जो तन, मन, वचन से सर्वदा पवित्र रहते हैं, जिनका अनुराग प्रबल है, जो सत्-असत् का विचार करनेवाले हैं और ध्यान तथा धारणा में संलग्न रहते हैं, उन्हीं पर भगवान् की कृपा होती है। परन्तु भगवान् प्रकृति के सब नियमों के परे हैं अर्थात् किसी नियम के वश में नहीं हैं। श्रीगुरुदेव जैसा कहा करते थे, 'उनका स्वभाव बच्चों के समान है।' इस कारण यह देखने में आता है कि किसी किसी ने करोड़ों जन्मों से उन्हें पुकारा, किन्तु उनसे कोई उत्तर न पा सका। फिर जिसको हम पापी, तापी और नास्तिक समझते हैं, उसमें एकाएक चैतन्य का प्रकाश हो गया। उसके न माँगने पर भी भगवान् ने उस पर कृपा कर दी। तुम यह कह सकते हो कि उसके पूर्वजन्म का संस्कार था। परन्तु इस रहस्य को समझना बड़ा कठिन है। श्रीगुरुदेव कभी ऐसा भी कहते थे, 'पूरी तरह उनके ही सहारे रहो, आँधी के जूठे पत्तल बन जाओ।' कभी कहते थे, 'कृपा रूपी हवा तो चल ही रही है, तुम अपनी

पाल उठा दो।'

शिष्य – महाराज, यह तो बड़ी कठिन बात है। कोई युक्ति ही यहाँ नहीं ठहर सकती।

स्वामीजी – तर्क-विचार की दौड़ तो माया से अधिकृत इसी जगत् में है, देश, काल, निमित्त की सीमा के अन्तर्गत है; और वे इन सबसे अतीत हैं। उनके नियम भी हैं, और वे नियम के बाहर भी हैं। (विवेकानन्द साहित्य, षष्ठ खण्ड, तृतीय संस्करण, पृष्ठ ४७, ४९-५०)

मानव का अहंकार बड़ी मुश्किल से मरता है। इसीलिये श्रीरामकृष्ण उसे नष्ट करने की अपेक्षा, उसे कच्ची दशा से परिपक्व अवस्था में लाकर उसका रूपांतर करने के लिए प्रोत्साहित करते थे। उसी अहंकार को सेवा के कामों में, समर्पण वृत्ति में लगाने के लिये कहते थे। केवल यह परिपक्व अहंकार ही आत्मसमर्पण का मूल्य जान सकता है और दैवी कृपा ग्रहण कर सकता है। श्रीरामकृष्ण के जाने माने शिष्य स्वामी तुरीयानन्द ने आध्यात्मिक चर्चा के बीच एक कहानी के माध्यम से यह बात स्पष्ट की है, वे कहते हैं, "शिव-पार्वती की कहानी है। कैलासपर्वत पर वे दोनों एक दिन चौपड़ खेल रहे थे, कि खेल के बीच में ही शिवजी खेल छोड़कर चलते बने। परन्तु शीघ्र ही लौट आये। पार्वती ने उन्हें अचानक जाने का और तुरंत ही लौट आने का कारण पूछा। शिवजी बोले, "मेरा एक भक्त डाकुओं से घिरा था। पहले वह मेरी शरण में आया परंतु मेरे वहाँ पहुँचने के पूर्व ही उसने डाकुओं को भगाने हेतु पत्थर उठा लिया था। फिर मैं लौट आया।'

सो जब तक मानव अपने आप को संपूर्णतया भगवान् के भरोसे नहीं छोड़ता, तब तक ईश्वरी कृपा प्रकट नहीं होती। अपने आप को भगवान् के हवाले करना – वह भी पूरे मनोयोग से कोई सरल बात नहीं। कहते हैं कि भक्त को भगवान् सदैव दर्शन देते हैं। सच है। बाइबिल में लिखा है – "जिसके पास

है, उसी को दिया जायेगा और उसके पास बहुत हो जायेगा, परन्तु जिसके पास नहीं है, उससे वह भी छीना जायेगा जितना उसके पास है।'' – यह सारा सत्य ही है। जरा व्यापक दृष्टि से देखिये। उदाहरण के लिए शारीरिक स्वास्थ्य। अच्छे स्वास्थ्यवाला व्यक्ति पनपता ही जाता है और छोटीमोटी अनियमितताओं का उसपर प्रभाव नहीं होता। किन्तु रोगी व्यक्ति पूरी सावधानी बरतने पर भी अपना स्वास्थ्य टिका नहीं पाता। छोटी सी अनियमितता उसके लिए घातक सिद्ध होती है। सर्वत्र यही बात है। यह प्रकृति का नियम है।

किन्तु इसका दूसरा भी एक पक्ष है। दीन भक्त के लिए भगवान् संरक्षक, सखा तथा सहायक होता है। दीन बनना तो बड़ा कठिन है। जब तक अहंकार लेशमात्र भी शेष है, तब तक दीनता आ ही नहीं सकती। लौकिक परिस्थिति के कारण जो निचला स्तर या दैन्य आता है उसमें और भक्त के दैन्य में जमीन-आसमान का अंतर है। अंत:करण की वह मृदुता कि स्वयं को घास के तिनके से भी तुच्छ मानना भक्त की दीनता है। 'Thou art guiding me by hand, O Lord!' यह केवल काव्य की एक पंक्ति मात्र नहीं है।' (Spiritual Talks, p.p. 248-49)

आध्यात्मिक विचार के क्षेत्र में ''ईश्वरी कृपा बनाम पुरुषकार'' यह विषय एक नित्य की समस्या है। तर्कनिष्ठा और बुद्धिप्रामाण्य की कसौटी पर यह प्रश्न अन्य कई समस्याओं के समान अनसुलझा ही रहेगा परन्तु आध्यात्मिक जीवन का अनुभव पाने के कौशल से यह प्रश्न सुलझ सकता है। तर्क की दृष्टि से यह एक अनुत्तरणीय विरोधाभास है जैसे अन्य भी कई विरोधाभास युक्ति पर आधारित दर्शनशास्त्र के शब्दकोश में पाये जाते हैं। परन्तु जीवन में प्रतिदिन ऐसे कई अनुत्तर तार्किक विरोधाभास (या विसंगतियाँ) कौशल से सुलटाये जाते हैं। कृपा तथा पुरुषकार का बाह्यत:

प्रतीत होनेवाला विरोध भी इसी तरह, आध्यात्मिक जीवन जीने की कला से सुलझ सकता है। श्रीरामकृष्ण के, इस विषय पर के कई तेजस्वी वचनों में इस कलाचातुरी का विश्लेषण है। वे कहते हैं –

"भगवत्कृपा की वायुलहरी अविरत बहती रहती है। भवसागर के कई आलसी खिवैये इससे लाभ नहीं उठाते। परंतु फुर्तीले तथा शक्तिशाली नाविक अपने मन की पालों को सदैव ताने रहते हैं ताकि अनुकूल पवन को पकड़कर निहित स्थान पर शीघ्र पहुँच सकें।

आप हजारों बार प्रयास कीजिये; परंतु भगवत्कृपा के बिना कुछ भी साध्य नहीं होगा। बिना उनकी कृपा से उनके दर्शन संभव नहीं। भगवान् की कृपा पाना कोई सरल बात थोड़े ही है? अपने 'अहं' भाव को समूल त्याग देना चाहिये। जब तक यह भावना रहेगी कि " 'मैं' कर्ता हूँ" तबतक भगवान् नहीं दिखाई देंगे। मान लीजिये किसी परिवार में एक व्यक्ति ने भंडारघर का दायित्व सँभाला है। अब कोई उस परिवार के मुखिया से कहे कि "भंडारघर से कोई वस्तु मुझे आप स्वयं निकाल कर दीजिये।" तो वह उत्तर देगा, "भंडारघर में अमुक व्यक्ति तो है ही। मैं वहाँ क्या करूँ?"

जो व्यक्ति स्वयं को 'स्वामी' समझते हैं उनके हृदय में ईश्वर का आविर्भाव होता ही नहीं। परंतु भगवान् की कृपा होते ही उनके दर्शन संभव हैं। वे ज्ञान के सूर्य हैं। उनकी एक अकेली किरण से समूचा जगत् ज्ञानप्रकाश से आलोकित हुआ है। इसीलिये तो हम एक-दूसरे को देख सकते हैं, विविध क्षेत्रों में ज्ञान अर्जित कर सकते हैं। भगवान् तो तभी दिखाई देंगे जब वे स्वयं अपने ऊपर अपना प्रकाश डाल ले।

पुलिस का दरोगा अँधेरी रात में हाथ में लालटेन लिये गश्त लगाता है। उसका चेहरा किसी को नहीं दीखता परंतु

लालटेन के प्रकाश के कारण वह हरेक का मुख देख सकता है और अन्यजन भी एक-दूसरे को देख पाते हैं। यदि तुम दरोगे का चेहरा देखना चाहते हो तो उसकी प्रार्थना करनी पड़ेगी कि "साहब, कृपया अपने चेहरे की ओर उजाला कीजिये। मुझे आपका चेहरा देखने दीजिये।" उसी प्रकार भगवान् से प्रार्थना करनी होगी कि "हे प्रभु! दया कीजिये, ज्ञान का प्रकाश अपने मुखमण्डल की ओर डालिये ताकि मैं आपके दर्शन कर सकूँ।" (Sayings of Shri Ramakrishna, p.p. 209)

श्रीरामकृष्ण के ये मनोहर वचन ईश्वरी कृपा के विषय पर प्रकाश डालते हैं। उन्होंने समझाया है कि ईश्वरी कृपा किस प्रकार कार्य करती है। वह उस समीर के समान है जो हर पल बहता है। कलकत्ता में गंगातट पर नाव खेनेवाले माल ढोते हैं। जब भाटा होता है और नाव लदकर तैयार होती है, वे रुक जाते हैं। शीघ्र ही ज्वार का समय होता है, वे लंगर खींच लेते हैं पाल तानते हैं और फिर हवा और जल की लहरें उनकी नौका को गति देती हैं। परन्तु उन्हें सावधानी से ज्वार के लक्षण पहचानने होते हैं और पालें तानने की सतर्कता भी बरतनी पड़ती है। यदि वे सो जायें या असावधान रहें तो उन्हें फिर बारह घंटों तक प्रतीक्षा करनी पड़ेगी जब अगला ज्वार आयेगा। ज्वार तो आयेगा ही। सो सजग रहिये, ज्वार आते ही लाभ उठाइये। श्रीरामकृष्ण आगे कहते हैं कि हवा तो नित्य बहती ही है, तुम्हारी नौका क्यों नहीं आगे बढ़ती? जब अन्य नौका धीरे-धीरे आगे बढ़ रही है तो तुम्हारी ही नाव को क्या हो गया? दोष हवा का नहीं, तुम्हारा है। तुम निष्क्रिय रहे, पाल तानने में चूक गये। अब पालें तानकर हवा को पकड़ लो। पाल तानने का पुरुषार्थ तुम्हें करना है, परंतु हवारूपी कृपादृष्टि तो सदा रहती ही है।

एक आकर्षक बोधकथा के द्वारा श्रीरामकृष्ण ने आत्मसमर्पित भक्त की सुख-दुख के प्रति, या जीवन के अन्य द्वन्द्वों के प्रति जो वृत्ति रहती है उसका विवेचन किया है। वे कहते हैं –

"देह में सुख और दुःख लगे ही है। जिसे ईश्वरलाभ हो चुका है, वह मन, प्राण, आत्मा, सब उन्हें दे देता है। पम्पा सरोवर में नहाते समय राम और लक्ष्मण ने सरोवर के तट की मिट्टी में धनुष गाड़ दिये। स्नान करके लक्ष्मण ने धनुष निकालते हुए देखा, धनुष में खून लगा हुआ था। राम ने देखकर कहा, भाई, जान पड़ता है, कोई जीव-हिंसा हो गयी। लक्ष्मण ने मिट्टी खोदकर देखा तो एक बड़ा मेंढ़क था, वह मरणासन्न हो गया था। राम ने करुणापूर्ण स्वर में कहा, 'तुमने आवाज क्यों नहीं दी? हम लोग तुम्हें बचा लेते। जब साँप पकड़ता है, तब तो खूब चिल्लाते हो।' मेंढ़क ने कहा, 'राम, जब साँप पकड़ता है, तब मैं चिल्लाता हूँ, राम, रक्षा करो – राम, रक्षा करो। पर अब देखता हूँ, राम स्वयं मुझे मार रहे हैं, इसीलिए मुझे चुपचाप रह जाना पड़ा।' " (श्रीरामकृष्णवचनामृत, द्वितीय भाग, चौदहवाँ संस्करण, पृष्ठ ७७३)

उन्होंने अन्यत्र कहा है –

"आत्मदर्शन के बिना सन्देह दूर नहीं होता।

"उनकी कृपा होने पर फिर कोई भय की बात नहीं रह जाती। पुत्र यदि पिता का हाथ पकड़कर चले तो गिर भी सकता है परन्तु यदि पिता पुत्र का हाथ पकड़े तो फिर गिरने का कोई भय नहीं। वे यदि कृपा करके संशय दूर कर दें और दर्शन दें तो फिर कोई दुःख नहीं। परन्तु उन्हें पाने के लिए खूब व्याकुल होकर पुकारना चाहिए – साधना करनी चाहिए – तब उनकी कृपा होती है। पुत्र को दौड़ते हाँफते देखकर माता को दया आ जाती है। माँ छिपी थी। सामने प्रकट हो जाती है।"

मणि सोच रहे हैं, ईश्वर दौड़-धूप क्यों कराते हैं? श्रीरामकृष्ण तुरन्त कहने लगे – "उनकी इच्छा कि कुछ देर

दौड़-धूप हो तो आनन्द मिले। लीला से उन्होंने इस संसार की रचना की है। इसी का नाम महामाया है। अतएव उस शक्तिरूपिणी महामाया की शरण लेनी पड़ती है। माया के पाशों ने बाँध लिया है, फाँस काटने पर ईश्वर के दर्शन हो सकते हैं।" (श्रीरामकृष्णवचनामृत, प्रथम भाग, सत्रहवाँ संस्करण, पृष्ठ ५९)

गृहस्थाश्रमियों को सीख देते हुए श्रीरामकृष्ण ने कहा है –

श्रीरामकृष्ण – (केशव आदि के प्रति) – जो लोग गृहस्थी में रहकर उन्हें पुकार सकते हैं, वे वीर भक्त हैं। सिर पर बीस मन का बोझा है, फिर भी ईश्वर को पाने के लिए चेष्टा कर रहा है, – इसी का नाम है वीर भक्त।

"तुम कहोगे, यह बड़ा कठिन है। पर क्या ऐसी कोई कठिन बात है, जो भगवान की कृपा से नहीं होती? उनकी कृपा से असम्भव भी सम्भव हो जाता है। हजार वर्ष सें अँधेरे कमरे में यदि प्रकाश लाया जाय तो क्या उजाला धीरे-धीरे होगा? कमरा एकदम आलोकित हो जायगा।"

ये सब आशाजनक बातें सुनकर केशव आदि गृहस्थ भक्तगण आनन्दित हो रहे हैं। (श्रीरामकृष्णवचनामृत, द्वितीय खण्ड, चौदहवाँ संस्करण, पृष्ठ ११८८)

श्रीरामकृष्ण के शिष्यों में बंगाल के बुद्धिजीवी नाटककार गिरीशचन्द्र घोष की जीवनी ईश्वरी कृपा का एक अनूठा उदाहरण है। उनकी साहित्यिक तथा अभिनयविषयक प्रतिभा के साथ उनके जीवन में न केवल भौतिकता का, अपितु सुरा-सुन्दरी का तथा अन्य लतों का भी महत्त्वपूर्ण स्थान था। वे अज्ञेयवादी थे; धर्म तथा संतों के प्रति उन्हें कोई आस्था नहीं थी। परंतु अपने नाटकों में संतों की भूमिका वे परिपूर्ण कुशलता के साथ निभाते थे।

श्रीरामकृष्ण ने कलकत्ता स्टार थियेटर में उनके कई नाटक देखे। साथ में उनके शिष्य भी रहते थे जिनमें से कुछ गिरीशचंद्र को वैयक्तिक रूप

से जानते थे। उनकी भूमिका पर श्रीरामकृष्ण मुग्ध हुए, अनेक बार उन्मादावस्था में भी गये। शीघ्र ही उन्होंने गिरीश की बाह्य भौतिकतावादी वृत्ति में छिपी अनूठी आध्यात्मिकता को भाँप लिया। प्रारंभ में गिरीश आध्यात्मिक दृष्टि से उनकी ओर आकृष्ट नहीं हुआ, परंतु औपचारिकतावश उनका अभिवादन करता रहा और थियेटर के सन्माननीय अतिथि के रूप में उनका स्वागत करता रहा। परंतु श्रीरामकृष्ण के अत्यधिक मृदुल और आकर्षक आचरण के कारण धीरे धीरे उनके समीप खिंचता चला गया। एक बार जब वे गिरीश को कुछ आध्यात्मिक उपदेश दे रहे थे, गिरीश ने कहा,

"मुझे उपदेश नहीं सुनना। मैंने स्वयं ही बहुतेरे उपदेश (नाटकों में) लिखे हैं, वे मेरे किसी काम के नहीं। यदि कर सकें तो अधिक सरल-स्पष्ट पद्धति से मेरी मदद कीजिये।"

इस उत्तर से श्रीरामकृष्ण संतुष्ट हुए और उसे मन में श्रद्धा जगाने को कहा।

कालांतर में श्रीरामकृष्ण के प्रति गिरीश की श्रद्धा गहराती गयी और उसे ऐसे गुरु की आवश्यकता प्रतीत हुई जो उसके जीवन में शांतिपूर्वक मोड़ ला सके। अपनी कलंदर वृत्ति के कारण उसके आदरपूर्ण आचरण में भी कभीकभी वही पुरानी उदंडता टपक पड़ती थी। ऐसे भी प्रसंग आये जब उसने श्रीरामकृष्ण का अपमान भी किया – उनके समक्ष सुरापान भी किया – और ऐसा वर्तन किया कि श्रीरामकृष्ण के अन्य शिष्य बौखला गये। परंतु श्रीरामकृष्ण ने जान लिया था कि इस ऊपरी औद्धत्य के पीछे गिरीश में एक धीरोद्धत श्रद्धालु बसता है। इसीलिए उन्होंने उसपर "यह करो, या यह न करो" का बन्धन नहीं डाला। पीने के विरोध में भी उपदेश नहीं किया। केवल उसे विशुद्ध स्नेह देते गये, उसकी अच्छाइयों तथा प्रतिभा की प्रशंसा करते गये और साहित्यिक तथा नाट्यकर्मी विधाओं के द्वारा मानवजाति की सेवा के लिए उसे प्रोत्साहित करते गये। नाट्यप्रयोग के पश्चात् उसके अभिनेता-अभिनेत्री गण को वे आशीष दिया करते थे, उनकी

कला का रसग्रहण करते थे। उनमें से कइयों के जीवन में इससे परिवर्तन भी हुआ, परंतु गिरीश में कोई बदलाव न था।

एक बार गिरीश बड़ा खिन्न था कि आध्यात्मिक साधना में वह टिक न सका। गिरीश को प्रशिक्षण देते समय श्रीरामकृष्ण उँसे पूरी स्वतंत्रता, उत्स्फूर्तता देते थे। उसकी यह शिकायत सुनकर कि नाट्यकर्मी तथा थियेटर प्रबंधक होने के कारण बनी अस्तव्यस्त जीवनी में वह आध्यात्मिक नियमबद्धता निभाने में असमर्थ है; श्रीरामकृष्ण बड़ी प्रसन्न मुद्रा में बोले, "ठीक है, अपना वकालतनामा तुम मुझे दे दो। तुम्हारे आध्यात्मिक जीवन का दायित्व आजसे मैं निभाऊँगा। तुम्हें कोई धार्मिक नित्यकर्म करने की आवश्यकता नहीं।"

यह सुनकर गिरीश ने मुक्ति की साँस ली। उसे बड़ा सन्तोष हुआ कि अपने गुरु श्रीरामकृष्ण ने अपनी आध्यात्मिक उन्नति का पूरा दायित्व स्वीकार किया है। परंतु ज्यों ज्यों दिन बीतने लगे, गिरीश की समझ में आ गया कि इससे अपने गले में प्रेम का एक ऐसा फंदा पड़ा है जो धार्मिक कृत्यों के बंधन से भी सौगुना अधिक मजबूत है। वह निरंतर श्रीरामकृष्ण तथा उनकी दैवी कृपा के ही चिंतन में डूबा रहने लगा। इस प्रक्रिया में उसके शेष सब काम छूट गये। उसका जीवन श्रीरामकृष्ण के ही निरंतर ध्यान में बदल गया और धीरेधीरे अनजाने ही उसकी सारी बुरी आदतें, लतें – यहाँतक कि सुरापान भी – छूट गयी, यद्यपि श्रीरामकृष्ण ने एक बार भी उन्हें ऐसा करने को नहीं कहा था। यद्यपि उनके अन्य गृहस्थाश्रमी शिष्यों के समान गिरीश भी अभी तक गृहस्थधर्मी ही था, फिर भी बाद में उन्होंने उसको अपने संन्यस्त शिष्यों की श्रेणी में ला बिठाया। बाद में जब श्रीरामकृष्ण महाप्रयाण कर गये, तब गिरीश ने 'उनकी दैवी कृपा के चमत्कार' कहकर स्वयं का निर्देश किया।

इस आधुनिक युग में श्रीरामकृष्ण ने नारदभक्तिसूत्र के उस वचन को सत्य सिद्ध कर दिखाया कि विशुद्ध भक्ति की अनुभूति किसी महान् संत की कृपा से अथवा ईश्वरी कृपा के अंश से ही पायी जा सकती है। सन

१८९६ में न्यूयॉर्क में अपने गुरु के विषय में बोलते हुए स्वामी विवेकानन्द ने आध्यात्मिक शक्ति के किसी को देने और लेने की व्यावहारिकता पर बल देते हुए कहा था,

> "पहले हमारे पास कुछ होना चाहिए, जिसे हम दूसरों को दे सकें। मनुष्य में ज्ञान का प्रसार केवल वही कर सकता है, जिसके पास देने को कुछ हो, क्योंकि शिक्षा देना केवल व्याख्यान देना नहीं है और न सिद्धांतों को प्रदान करना ही – इसका अर्थ है संप्रेषण। जैसे मैं तुम्हें एक फूल दे सकता हूँ, उसी प्रकार उससे भी अधिकतर प्रत्यक्ष रूप से धर्म भी संप्रेषित किया जा सकता है। और यह बात अक्षरश: सत्य है। ... केवल एक ही स्पर्श तथा एक ही दृष्टि में सारा जीवन बदला जा सकता है। मैंने महात्मा बुद्ध, ईसा मसीह तथा मुहम्मद के बारे में एवं पुराणकालीन अन्य महात्माओं के विषय में पढ़ा है। वे किसी भी मनुष्य के सम्मुख खड़े होकर कह देते थे, 'तू पूर्णता को प्राप्त हो जा' और वह मनुष्य उसी क्षण पूर्णता को प्राप्त हो जाता था : यह बात अब मुझे सत्य प्रतीत होने लगी और जब मैंने इन महापुरुष के स्वयं दर्शन कर लिए तो मेरी सारी नास्तिकता दूर हो गयी। मेरे गुरुदेव कहा करते थे,'इस संसार की किसी ली-दी जानेवाली वस्तु की अपेक्षा धर्म अधिक आसानी से दिया तथा लिया जा सकता है।"

स्वामी विवेकानन्द के इन शब्दों की सत्यता श्रीरामकृष्ण के जीवन की एक लक्षणीय घटना से सिद्ध होती है। स्वामी सारदानन्द लिखित श्रीरामकृष्णलीलाप्रसंग में 'आत्मप्रकाश द्वारा अभयप्रदान' नामक अध्याय में यह प्रसंग वर्णित है –

अपने महाप्रयाण के लगभग साढ़े आठ मास पूर्व, १.१.१८८६ के दिन श्रीरामकृष्ण गले के कर्करोग से अत्यवस्थ होकर उत्तरी कलकत्ता के

काशीपुर में एक किराये के मकान में लेटे थे। छुट्टी का दिन होने के कारण बहुतसे गृहस्थाश्रमी भक्त दोपहर में वहाँ आये थे। वातावरण आह्लादक था और गुरु का स्वास्थ्य भी अपेक्षाकृत ठीक ही था, सो उन्होंने कमरे से बाहर निकलकर बगीचे में घूमने की इच्छा प्रकट की। जब वे घूम रहे थे, भक्तजन आकर प्रणाम करते जाते थे। जब गिरीशचन्द्र घोष प्रणाम करने आये तब श्रीरामकृष्ण ने उनसे कहा, "गिरीश, मुझे पता चला है कि तुम मेरे विषय में बहुतसी बातें कहते हो – कि मैं ईश्वर का अवतार हूँ। मेरे विषय में तुमने ऐसा क्या देखा या समझा कि तुम ऐसी बातें कहते हो?"

इस अप्रत्याशित और अनोखे प्रश्न पर किंचित् भी विचलित न होकर गिरीश ने भावगद्गद स्वर में उत्तर दिया – "व्यास-वाल्मीकि समान महर्षि भी जिसकी महिमा बखानने के लिए उपयुक्त शब्द नहीं खोज सके, उसके विषय में मेरे जैसा व्यक्ति अधिक क्या कह पायेगा?"

भक्त गिरीश के ये भावभीने शब्द सुनकर श्रीरामकृष्ण मुग्ध हो उठे और उसे आशीर्वाद दिया, "तोमार चैतन्य होक।" (तुम्हारी आध्यात्मिक चेतना जागृत हो जाय।) ज्योंही इन शब्दों का उच्चारण हुआ, वे तत्क्षण हर्षविभोर उन्मादावस्था में चले गये और उन सब लोगों को आशीष देने लगे जो वहाँ प्रणाम करने आये थे। स्वामी सारदानन्द के शब्दों में –

> "इस प्रकार प्रणाम करते समय श्रीरामकृष्णदेव के करुणासिन्धु ने आज वेलाभूमि का अतिक्रमण किया और इस प्रकार एक अदृष्टपूर्व घटना संघटित हुई। किसी किसी भक्त के प्रति करुणा और प्रसन्नता से विभोर होकर दिव्यशक्ति के पवित्र स्पर्श से उसे कृतार्थ करते हमने इससे पहले भी दक्षिणेश्वर में श्रीरामकृष्णदेव को प्राय: प्रतिदिन ही देखा था। परन्तु आज तो अर्धबाह्यदशा में वे समवेत प्रत्येक भक्त को उसी तरह स्पर्श करने लगे। कहना न होगा, उनकी इस अपूर्व कृपा से भक्तों में आनन्द की सीमा न रही। ... इस अपूर्व घटना से कोई-कोई कुछ भी कहने में असमर्थ हो जाने के कारण मन्त्रमुग्ध

हो केवल उन्हें देखते ही रहे। कोई-कोई घर के भीतर के सब लोगों को श्रीरामकृष्ण की कृपा प्राप्त कर धन्य होने के लिए चिल्लाकर बुलाने लगे और कोई-कोई फूल चुनकर मन्त्रोच्चारण करते हुए उनके शरीर पर चढ़ाकर उनकी पूजा करने लगे। कुछ क्षण ऐसा होने के बाद श्रीरामकृष्णदेव को शान्त होते देखकर भक्त लोग भी पहले की तरह प्रकृतिस्थ हुए और आज का उद्यान-भ्रमण इसी तरह समाप्त करके वे भी मकान में प्रविष्ट हुए और अपने कमरे में जा बैठे।''

बाद में पूछा जाने पर हर भक्त ने कहा कि उसीकी वृत्ति के अनुकूल भक्तिमार्ग पर चलने का आशीष उसने पाया था।

ईश्वर के आत्मप्रकटीकरण का तथा ईश्वरी कृपा का तथ्य तब स्पष्ट होता है जब हम मन में दो धारणाओं को पक्का कर लें। एक तो यह कि ईश्वर का स्वरूप चित्, अनंत और अद्वितीय है। दूसरी यह कि हमारी आत्मा भी वही है – ईश्वर कोई बाह्य वस्तु अथवा अलौकिक देवता नहीं। श्रीमद्भागवत के गजेन्द्र आख्यान में ईश्वर को आत्मप्रदीप कहा है।

नम आत्मप्रदीपाय साक्षिणे परमात्मने।
नमो गिरां विदूराय मनसश्चेतसामपि।। श्रीमद्भागवत ८.३.१०

उस सर्वसाक्षी, आत्मप्रदीप परमात्मा को मैं नमन करता हूँ। जो वाणी के, मन के, विचारों के भी परे है, उसे मेरा प्रणाम।

उपनिषद्, गीता, श्रीमद्भागवत तथा अन्य धर्मग्रंथ भी इस बात पर बारंबार बल देते हैं कि मुक्ति या मोक्ष कोई परलोक में प्राप्त होनेवाली वस्तु नहीं अपितु यहीं पर – इहैव – पायी जा सकती है, क्योंकि ईश्वर का साम्राज्य मानव के भीतर ही है।

शिवगीता के शब्दों में

मोक्षस्य न हि वासोऽस्ति न ग्रामान्तरमेव च।
अज्ञान-हृदय-ग्रन्थेरनाशो मोक्ष इति स्मृतः।। पद्मपुराण,१३-३२

मोक्ष का कोई निश्चित निवासस्थान नहीं, न वह किसी दूसरे गाँव जाने से मिलता है। अध्यात्मविषयक अज्ञान की हृदय में पड़ी हुई ग्रन्थि के नाश का नाम ही मोक्ष है।

दुनिया की अद्भुत कथाओं में ईश्वरी कृपा

पूर्व तथा पश्चिम की बहुतसी अद्भुत कथाओं में ईश्वर के प्रकटीकरण की कल्पना अनेकों बार पायी जाती है। जौन रूझब्रुक कहते हैं –

God in the depths of us receives God who comes to us, it is God contemplating God.

हमारे भीतर का ईश्वरतत्त्वही हमारे सम्मुख साक्षात् प्रकट होनेवाले ईश्वर को ग्रहण करता है, अर्थात् ईश्वर ही ईश्वर का ध्यान करता है। (Selected Works of San Van Ruysbroeck, John Watkins Edition, 1912, p.p. 48)

जलालुद्दीन रूमी की एक रचना में भगवान् के अस्तित्व के प्रति जिसके मन में संदेह उत्पन्न हुआ है, ऐसे भक्त के प्रति भगवान् का संदेश वर्णित है। उसकी प्रार्थना का स्पष्ट उत्तर न मिलने से उसके मन में ईश्वर के अस्तित्व में ही संदेह उत्पन्न हुआ था। वह संदेश है –

तुम्हारा 'हे प्रभु' पुकारना ही
मेरी पुकार है – "मैं यहाँ हूँ।"
मेरे कान तक पहुँचने हेतु तुम्हारे प्रयासही
एक चिह्न है कि मैं तुम्हें खींच रहा हूँ।
तुम्हारी प्रेमपुकार ही मेरी कृपा है।
तुम क्यों नहीं टेर लगाते?
तुम्हारी एक पुकार "हे प्रभु" – अर्थात्
मेरा शत बार "मैं यहाँ हूँ" कथन!

मेईस्टर एकार्त (Meister Eckhart) कहते हैं –

"छुपकर बैठा हुआ व्यक्ति यदि हलचल करेगा तो उसका पता लग जायेगा। ईश्वर भी वैसा ही करता है। ईश्वर का पता

किसीको नहीं लगता, क्योंकि वह छुपा बैठा है।"

एक सूफी रचना है –

"वह सब
जो तुम हो, जो तुमने किया, देखा और सोचा
वह तुमने नहीं, मैंने देखा, मैंने ही कराया।
यात्रिक, यात्रा और मार्ग
और कुछ नहीं, मेरे ही द्वार पर मैं ही हूँ।
बिखरे हुए अणुओं, आओ,
अपने केन्द्र की ओर चलो।
अंधकार में भटकती हुई किरणों, लौट आओ
अपने वसतिस्थान में, सूर्य में समा जाओ।"

ईश्वरकृपा के साथ पुरुषकार की आवश्यकता पर बल देते हुए ईरान के सूफी संत शेख सादी कहते हैं –

उसकी कृपा पर तुम्हारी श्रद्धा और अभिमान सही है।
यह भी सच है कि वह फलदायी भी है।
जोती हुई भूमि पर वर्षा की फुहार के समान।
पर क्या फल देगी वह वर्षा
यदि आपने बीज ही न बोया हो? (Sufis, Mystics & Yogis of India, बाँके बिहारी भवन, १९७१, पृष्ठ ३८)

सिख्खों के गुरु ग्रंथसाहब में जिनकी कई बानियाँ हैं वे बाबा फरीद कहते हैं –

"उसकी कृपा हम पर किसी भी समय बरस सकती है। उसका कोई निश्चित नियम नहीं। कइयों को तो बड़े देहदंड भोगकर, रात रात जगकर भी लाभ नहीं होता, तो किसी पर सोते रहने पर भी कृपा टपक पड़ती है।" (वही, पृष्ठ १०५)

जिसने दकियानूसी और लकीर के फकीर इस्लामी शरीयत से अधिक बल अपने तरीक़ा – इस्लाम का आध्यात्मिक पक्ष – पर दिया, और इसी कारण आलमगीर औरंगजेब ने जिसे प्राणदंड दिया, उस सूफी संतकवि

सरमद ने – जो दाराशिकोह का मित्र भी था – ने कहा है कि ईश्वर मनुष्य के प्रति स्वयं को समर्पित करता है। वह कहता है –

"यदि मैं शुद्ध हूँ, तो नहीं चखूँगा
मधुर फल पापों की क्षमा का।
यदि मैं पवित्र हूँ, तो कभी अश्रु नहीं देखूँगा।
हे प्रेम! हे दया! हे ईश्वरीय करुणा!
हे क्षमा! हे ममता! हे सहानुभूति!
यदि मैं शुद्ध होता तो तुम्हें कभी न जानता!
क्या तुम उसे प्यार करोगे
जिसने तुम्हारे लिए प्राण नहीं त्यागे?
तुम्हारे हेतु आत्मोत्सर्ग न करनेवाले के लिए
क्या तुम प्राणत्याग करोगे?
यदि ईश्वर मनुष्य के लिए नहीं मरता,
या शाश्वत रूप से अपने आप को
अर्पित नहीं करता,
तो मानव का अस्तित्व ही न रहेगा।
क्योंकि प्रेम ही मानव है, प्रेम ही ईश्वर है।
अन्य पर दया ही उसके लिए मरना है।
दैवी प्रतिमा में कोई जी नहीं सकता,
बन्धुभाव से जी सकता है।" (वही, पृष्ठ १०५)

पूर्ववर्ती शती के सूफी मन्सूर के समान दैवी कृपा और प्रेम शक्ति का अनुभव करके सरमद ने जो गीत गाते हुए मृत्यु को गले लगाया, वह गीत है –

"हा! कितना दयालु है वह
कि मेरा सिर शरीर से अलग करने की आज्ञा उसने दी!
मैं तो भयानक सिरदर्द से पीड़ित था,
उसने तो वह बात ही काट दी।
मन्सूर का प्रसंग तो भुलाया गया

काल के क्रम में –
अब मेरे इस प्राणदण्ड से
वह महान् प्रेम की कहानी
फिर से दुहरायी गयी।" (वही, पृष्ठ ११९-१२०)

सत्रहवीं शती के विनम्र ईसाई भक्त ब्रदर लारेन्स की जीवनी में ईश्वरी कृपा का स्पर्श और मानव से ईश्वर का सामीप्य स्पष्टतया झलकता है। उनके संवादों तथा पत्रों में लिखा है –

"केवल ईश्वर से प्रेम होने के कारण मैंने धार्मिक जीवन चुना। मेरी सारी क्रियाएँ उसी के लिए हैं। मेरा चाहे कुछ भी हो जाये, मैं चाहें मरूँ या बच पाऊँ, विशुद्ध रीति से, केवल ईश्वरभक्ति के लिए ही काम करना जारी रखूँगा। –"

उनके सम्बन्ध में लिखा गया है –

"जब कोई सत्कृत्य करने का प्रसंग आता था, तब वे कहते थे, "प्रभु, मैं यह तब तक नहीं कर पाऊँगा जब तक तुम सामर्थ्य न प्रदान करो!" – और फिर उन्हें पर्याप्त से अधिक सामर्थ्य प्राप्त हो जाता था।

कभी कर्तव्यच्युत हो जानेपर पश्चात्ताप से वे प्रभु से कहते थे, "प्रभु, यदि मुझे मेरे ही भरोसे छोड़ दोगे तो मैं अन्यथा नहीं कर पाऊँगा। मेरी कर्तव्यच्युति से मुझे तुम ही रोको, जहाँ मैं गलत हूँ, तुम्ही सुधार दो।" इसके पश्चात् उनकी बेचैनी दूर हो जाती थी।

शुचिता पाने हेतु हमारे दैनंदिन गतिविधियों में परिवर्तन करने की आवश्यकता नहीं है, अपितु वे ही कर्म ईश्वरार्पण बुद्धि से करने की है। यह भी एक भ्रम है कि प्रार्थना का एक कोई निश्चित समय होता है, या काम के समय काम और प्रार्थना के समय प्रार्थना करने से ही भगवान् का सामीप्य मिलता है।

उनकी प्रार्थना और कुछ नहीं, बस ईश्वर में

आस्तिक्यबुद्धि थी। उस समय दिव्य प्रीति के अतिरिक्त किसी वस्तु का उन्हें भान नहीं रहता था। जब प्रार्थना का निहित समय गुजर जाता था; तब भी उन्हें कोई फर्क नहीं पड़ता था। क्यों कि वे भगवान् के साथ ही साथ रहते थे, पूरी शक्ति के साथ उपासना में लीन! सो उनका समूचा जीवन निरंतर आनंद में व्यतीत होता था।

उनका चेहरा ही आश्वासक, सत्त्वगुण निदर्शक था। ऐसा मधुर-शान्त भक्तिभाव उनके चेहरे से प्रस्फुटित होता था कि देखनेवाले आकृष्ट हो ही जाते थे। देखा गया है कि रसोईघर में काम की कितनी ही जल्दी क्यों न हो, उनका स्मरण-चिंतन चलता ही रहता था। वे कहते थे, "मेरे लिए काम का समय प्रार्थनासमय से भिन्न नहीं है। रसोईघर के शोरगुल में, एक ही समय में बहुत से व्यक्तियों द्वारा भोजन करते हुए की गयी विविध पदार्थों की माँग में भी मुझे भगवान के दर्शन उतनी ही शान्तिपूर्वक होते हैं जैसे मैं क्रूस के सामने घुटने टेंककर शान्त मन से बैठा हूँ।" ("Practice of the Presence of God" पृष्ठ १६-३१)

ब्रदर लारेन्स के समान मठ (monastery) का एक साधारण रसोइया हो या मीराँबाई सदृश राजरानी हो, संतों की सारी अनुभूतियों में ईश्वरी कृपा का तथ्य तथा मानवी जीवन पर उसका प्रभाव दिखाई पड़ता है। गीता-ध्यान-श्लोक नामक नौ श्लोकों के संकलन में से एक श्लोक सदैव उद्धृत किया जाता है जिसमें ईश्वरी कृपा का मानवजीवन पर प्रभाव वर्णित हैं –

मूकं करोति वाचालं पंगुं लंघयते गिरिम्।
यत्कृपा तमहं वन्दे परमानन्दमाधवम्।। गीताध्यान, श्लोक ८

परम आनन्द के निधि श्रीकृष्ण को मेरा वन्दन, जिनकी कृपा से गूँगा व्यक्ति बोलने लगता है, पंगु पर्वतारोहण कर सकता है।

अविला की सन्त थेरेसा ने अपने आत्मचरित्र के एक मनोहर अंश में पुरुषकार तथा भगवत्कृपा का स्वरूप और मानवजीवन में उनका स्थान, बागवानी का उदाहरण देकर सुस्पष्टतापूर्वक प्रतिपादित किया है। वे लिखती हैं –

"नये साधक को सोचना चाहिये कि मैं ईश्वर के मनोविनोदन हेतु एक उद्यान बनाने जा रहा हूँ परंतु वहाँ की भूमि बंजर और घासफूस से भरी है। वहाँ की घास उखाड़कर उसके स्थान पर ईश्वर अच्छे पौधे रोपेंगे। मान लीजिये कि यह काम पहले ही हो चुका है। जीव ने प्रार्थना का संकल्प किया है और प्रारंभ भी हो चुका है। अब कुशल बागवान की तरह हमें भगवान की सहायता से उन पौधों को बढ़ाना है, सावधानी से पानी देना है ताकि वे मर न पाये अपितु फूलों से आसमंत को सुगंधित कर दें, जिससे हमारे प्रभु उससे प्रसन्न हो, उस उद्यान में बारबार आवें और उस सुगन्ध (सद्गुणों) में विश्राम करें।

"अब यह देखना है कि पानी किस प्रकार दिया जाय। हमें मालूम होना चाहिए कि हमें क्या करना है, कौनसे कष्ट उठाने है ताकि कष्ट के अनुपात में लाभ हो और कितने समय तक परिश्रम करना पड़े। मुझे लगता है कि बगीचे को पानी चार प्रकारों से दिया जा सकता है – कुएँ से पानी लाकर, जिसमें अत्यधिक परिश्रम है; या फिर जलकूपयंत्र से (जिसमें कई घड़े एक चक्र में लगे रहते हैं; वह रहट के समान कुँए पर लगाया जाता है और मोट का काम देता है) (मैंने भी यदाकदा यह काम किया है, इसमें अपेक्षाकृत कम कष्ट हैं और अधिक पानी दिया जाता है।) या फिर नहर से, जिसमें पूरी जमीन को पानी मिलता है और प्रतिदिन पानी नहीं देना पड़ता – इसमें बहुतसा श्रम बच जाता है या फिर भारी वर्षा

से, जिसमें ईश्वर स्वयं पानी देता है, मानव को कोई कष्ट नहीं! यह पद्धति उपर्युक्त सारी पद्धतियों में श्रेष्ठ है।"

चौथी-पाँचवी शताब्दि के महान् ईसाई संत अगस्तीन (Augustine) ने अपनी Confesssions of St. Augustine नामक पुस्तक में बड़ी ही चित्ताकर्षक शैली में अपनी भटकी हुई अज्ञेयवादी जीवनपद्धति के ईश्वरकेन्द्रित जीवनी में परिवर्तित होने का वृत्तांत लिखा है। उनके इस आध्यात्मिक परिवर्तन में उनके स्वयं के बौद्धिक-आत्मिक प्रयास-परिश्रमों के साथ उनकी वत्सल माता मोनिका की उनकी ओर से की हुई प्रार्थनाओं का भी बड़ा हाथ है, कि अपने इस प्रतिभाशाली किन्तु भटके हुए पुत्र पर ईश्वर कृपा की वर्षा करे। उनकी कृपा – अनुभूति में आत्मनिर्भरता का, कृपापात्र बनने हेतु किये हुए, परिश्रमों का – जिन्हें श्रीरामकृष्ण 'व्याकुलता' कहते हैं – उसका; और अवस्थांतर की उस सुचारु अनुभूति के सत्य स्वरूप का मर्मस्पर्शी स्थान हमें प्रतीत होता है। यह अवस्थांतर ऐसा नहीं था जैसा संख्याबल के आधारपर राजनैतिक धर्मांतरण होता है जिसने स्वयं उनके ईसाई धर्म को या अन्य कट्टर धर्मों को निचले स्तर पर ला रखा है, अपितु जैसा धर्मशास्त्र में समझा जाता है उस प्रकार का यह रूपांतर था। अपने कृतकर्मों पर ग्लानि करते हुए (confessing) बड़े हृदयस्पर्शी काव्यात्म शब्दों में वे ईश्वर से कहते हैं –

"मेरे अंतस्तल में छिपी गहराइयों से घसीट कर मेरी त्रासदी का पूरा ढाँचा मेरे जिज्ञासु विचार ने मेरे मनश्चक्षुओं के समक्ष खड़ा कर दिया। फिर आँसुओं का प्रवाह साथ में लेकर मेरे भीतर एक भयानक प्रभंजन उठा। उन आँसुओं को मुक्त रूप से बहने देने के लिए और उसके साथ फूट पड़नेवाले शब्दों को निकास देने हेतू मैं अलीपियस के पास से उठकर (रोने के लिए एकांत ही बेहतर होता है।) कुछ आगे गया ताकि उसकी उपस्थिति का भी संकोच न हो। मुझे ऐसा ही लगा – और वह जान गया इसमें संदेह नहीं कि मैं कुछ न

कुछ बोल पड़ा और मेरे रुंधे कण्ठ में उसे मेरे अश्रुओं का आभास हुआ। मैं खड़ा हो गया और वह विस्मित होकर वहीं रह गया जहाँ हम बैठे हुए थे। अंजीर के एक वृक्षतले मैंने जैसे तैसे स्वयं को झोंक दिया और आँसुओं को मुक्त छोड़ दिया। मेरी आँखों से आँसू बाढ़ के समान प्रवाहित हो रहे थे। हे प्रभु, वही तुम्हारे लिए स्वीकार्य आहुति थी। इन्हीं शब्दों में नहीं परंतु इसी आशय के कुछ शब्दों में मैं तुम से कह रहा था,

"हे प्रभु! कब तक – प्रभु कब तक यूँ रूठे रहोगे? मेरे पुराने घोर अन्यायों को भूल जाओ प्रभु।" – क्योंकि मुझे लग रहा था कि मेरे पूर्वपाप ही मुझे दृढ़ता से जकड़े हुए थे। – मैं व्याकुल होकर पुकार रहा था, कबतक रहेगा यह 'कल' और "कल"? अभी क्यों नहीं? मेरे सारे कलंक इसी समय क्यों न मिटा डालो?

हृदय की तीव्र व्याकुलता में मैं रोते रोते बोलता गया। अचानक पास के किसी घर से मुझे आवाज सुनाई दी। किसी बच्चे की (लड़का या लड़की कह नहीं सकता) सुरीली गुनगुनाहट थी जिसमें बारबार दुहराया जाता था "Take it and read it. Take it and read it." (ग्रहण करो और पढ़ो।) तत्क्षण मेरी मुखमुद्रा बदल गयी। मैं ध्यान पूर्वक सोचने लगा कि ये पंक्तियाँ बच्चो के किसी खेल की तो. नहीं – मुझे याद नहीं आ रहा था कि पहले कभी ऐसा कुछ सुना हो! मैंने आँसुओं के प्रवाह को नियंत्रित किया और खड़ा हुआ। मुझे पूरा विश्वास हुआ कि यह मेरे लिए ईश्वरी आदेश है कि पुस्तक खोलूँ और जो पन्ना खुले उसका प्रथम परिच्छेद पढ़ूँ। मैंने एंटनी के विषय में सुना था – जब गौस्पल पढ़ी जा रही थी तब उसने अंदर प्रवेश किया और उसने संकेत ग्रहण किया मानों वे शब्द सीधे

उसीको सुनाये जा रहे हों – "जाओ, पास का सब कुछ बेच डालो और गरीबों में बाँट दो। स्वर्ग में तुम्हारे नाम खजाना भरा रहेगा। आओ, मेरा अनुसरण करो।" – इस नभोवाणी के कारण वह तत्काल तुम्हारा हो गया (Converted to you)।

फिर मैं उत्सुकतावश वहीं गया जहाँ एलीपस बैठा था क्योंकि जब मैं उठा तब एपोस्टल (Apostle) की पुस्तक मैंने वहीं रख छोड़ी थी। मैंने झपटकर पुस्तक उठायी, खोली और वही परिच्छेद शान्तिपूर्वक पढ़ने लगा जहाँ दृष्टि पड़ी। परिच्छेद था –

"बगावत में या मदिरापान में नहीं, कमरे में बंद रहकर नहीं और मटरगश्ती करके भी नहीं, झगड़ेफसादों में या द्वेषमत्सर में भी नहीं, तो स्वयं को ईश्वर के चरणों में डालकर ही (तुम निर्वाण पाओगे)। देह की वासनापूर्ति के साधन मत जुटाओ।" – आगे पढ़ने की न मुझे इच्छा रही न आवश्यकता। ज्यों ही मैं इस वाक्य के अंत तक पहुँच गया, मेरा हृदय मानों आत्मविश्वास के प्रकाश से भर गया और सन्देह के सारे साये मानों मिट गये।

पुस्तक मिटाने के पूर्व मैंने वही उंगली डाल रखी और जो कुछ भी घटा था, एलीपस को निवेदन किया। अबतक मेरा चेहरा पूरी तरह शान्त हो चुका था। एलीपस के साथ जो घटना हुई थी, वह भी मुझे कहने लगा जो मुझे ज्ञात न थी। मैंने जो परिच्छेद पढ़ा था, उसे देखने की इच्छा उसने प्रकट की। मैंने दिखा दिया। उस परिच्छेद के आगे वह पढ़ने लगा जो शब्द मुझे भी ज्ञात न थे। वे ऐसे थे – "जिसकी श्रद्धा डाँवाडोल हो, उसे अपना लो।" उसने ये शब्द स्वयं पर ओढ लिये और वैसा मुझे कहा। उस संकेत से उसे बल प्राप्त हुआ। शान्तिपूर्वक और निःसंकोच होकर वह हेतुपुरस्सर

मेरे साथ हो लिया। उसकी वृत्ति के लिए वह निर्णय बहुतही अच्छा और सही था – उसका चारित्र्य मेरी तुलना में बहुत ही अच्छा था।

तत्काल हमने यही किया कि अंदर जाकर मेरी माँ को यह सब बताया। हमने कथन किया कि यह सब कैसे हुआ, और उनके विजयोल्लास की कोई सीमा न रही। अब वे तुम्हारे स्तुतिस्तोत्र गाने लगीं – तुम, जो हमारी चाह या माँग से भी अधिक देने में समर्थ हो, उसके। – क्योंकि मेरे विषय में जितना कुछ वे दयनीयता से तुम्हारे सामने रो रो कर माँगती थीं, तुमने उससे कुछ अधिक ही दे डाला था! तुमने मुझे इस प्रकार अपना लिया कि मुझमें पत्नी की या किसी भी लौकिक सुख की कामना ही न बची। अब मैं श्रद्धा की उस ऊँचाई पर खड़ा था जो तुमने उन्हें मेरे सम्बन्ध में कई साल पूर्व दर्शायी थी। उनके दुख को तुमने ऐसी प्रसन्नता में बदल डाला, जितनी प्रसन्नता उन्हें मेरे द्वारा उत्पन्न पोतो को देखकर भी न होती।'' (The Confessions of St. Augustine, p.p. 181-183)

फिर बात आती है आध्यात्मिक सन्दर्भ में महत्त्वपूर्ण उनके ईश्वर-साक्षात्कार की उनका ईश्वर कोई बहुत दूर, ब्रह्माण्ड से परे रहनेवाला एक देवता नहीं था जिसका अनुभव करना असंभव हो और जो केवल विश्वास का विषय हो; अपितु यह वही परमात्मा था जो स्वयं उनकी आत्मा का आत्मा, उनके जीवन का प्राण था। वे कहते हैं –

"ईश्वर क्या है?" मैंने पृथ्वी को पूछा तो वह बोली, "मैं वह नहीं हूँ।" पृथ्वी पर की सारी वस्तुओं ने भी वही मान लिया। फिर मैंने सागर को, पृथ्वी के नीचे रहनेवाले, रेंगनेवाले जीवों से पूछा – उन्होंने उत्तर दिया, "हम तुम्हारे ईश्वर नहीं। हमारे ऊपर (above) देखो।" मैंने हवा के झोंके से पूछा तो वैश्विक वायु ने अपने भीतर रहनेवाले समस्त जीवों

के साथ उत्तर दिया "एनाक्सिमेनेस (Anaximenes) गलत कहता था। हम ईश्वर नहीं हैं।" मैंने स्वर्ग, सूर्य, चन्द्र, तारे सबसे पूछा और उन्होंने कहा, "नहीं, हम वह ईश्वर नहीं जिसे तुम खोज रहे हो।" मैंने समस्त इन्द्रियविषयों से कहा, "मुझे मेरे ईश्वर के बारे में बताओ। तुम वह नहीं हो। उसके बारे में कुछ तो बताओ।" – वे सब ऊँची आवाज में चिल्लाये, "उसने हमें निर्माण किया है।"

क्योंकि सत्य ने मुझसे कहा, "तुम्हारा ईश्वर न स्वर्ग है, न पृथ्वी, न अन्य कोई तत्त्व!" और अब, हे मेरी आत्मा, मैं तुझसे कह रहा हूँ कि तू ही मेरा श्रेयस्कर अंश है। शरीर के हाड़माँस को तूने ही चेतना दी, उसमें प्राण फूँके। यह बात कोई एक शरीर दूसरे शरीर के लिए नहीं कर सकता। परंतु तेरा ईश्वर तेरे लिए भी जीवन का जीवन है।" (वही, पृष्ठ २१५-२१६)

श्रीरामकृष्ण तथा सगुण-निर्गुण ईश्वर का ऐक्य

भक्तिसम्प्रदाय जिसे 'आत्मसमर्पण' तथा 'ईश्वरी कृपा' कहता है उसका अत्यंत महत्त्वपूर्ण सन्दर्भ उपनिषदों में मिलता है। कठोपनिषद् में यम द्वारा नचिकेता को दिये गये उपदेश में शाश्वत सर्वान्तर्यामी आत्मा के ज्ञान का विषय आया है।

नायमात्मा प्रवचनेन लभ्यो
न मेधया न बहुना श्रुतेन।
यमेवैष वृणुते तेन लभ्यः
तस्यैष आत्मा विवृणुते तनुं स्वाम्।। कठोपनिषद् १.२.२३

यह आत्मा (आत्मज्ञान) न प्रवचन से प्राप्य है न बुद्धिसामर्थ्य से न श्रवण के आधिक्य से। यह उसी को प्राप्त होता है जिसका चयन वह स्वयं (आत्मा) करता है – उसी

को आत्मा अपना सच्चा स्वरूप दिखाता है।

बहुधा यह माना जाता है कि इस श्लोक में उद्धृत मार्ग – जैसे धर्मग्रंथों का अध्ययन, ब्रह्मज्ञानविषयक युक्तिवाद, वेदमंत्र तथा प्रवचन सुनना तथा अन्य आध्यात्मिक कृत्य मानव की अध्यात्मयात्रा तय करके उसे आत्मज्ञान तक पहुँचाती हैं। परंतु उपनिषद् का यह श्लोक तो कहता है कि इनसे इस विषय का पूरा सत्य नहीं मिलता। इनका कार्य केवल तर्क-सिद्धान्त पर चलता है, कार्य-कारण भाव के जाल में ये सिद्धान्त द्वैत तथा सापेक्षता की दुनिया में फँसे रहते हैं। परंतु आत्मा तो तर्क से परे है। यह अनेक वस्तुओं में से एक वस्तुमात्र, या दुनिया के जड़ पदार्थों में से एक पदार्थ या इन्द्रियगोचर विषयों में का एक विषय नहीं कि जिसे उपकरणों-साधनों द्वारा सावधानी से प्रयोग करके प्राप्त किया जा सके। अपितु यह साधक का, द्रष्टा का, स्वयं का आत्मा है। शुद्ध, चित्स्वरूप, शाश्वत और अद्वितीय होने के कारण यह कार्यकारणभाव से प्रादुर्भूत होनेवाला पदार्थ नहीं है। मुण्डकोपनिषद में स्पष्टतया प्रतिपादित किया है कि यह **नास्ति अकृतः कृतेन।** (मुण्डक, १.२.१२) याने अनित्य कर्म आदि के द्वारा उस अकृत-स्वयम्भू की प्राप्ति नहीं हो सकती। इस पर व्याख्या करते हुए श्रीशंकराचार्य कहते हैं –

> **इह संसारे नास्ति कश्चिदपि अकृतः पदार्थः, सर्व एव हि लोकाः कर्मचिताः, कर्मचितत्वात् च अनित्याः ... अहं च नित्येन, अमृतेन, अभयेन, कूटस्थेन, अचलेन, ध्रुवेण, अर्थेन अर्थी, न तद्विपरीतेन।**
>
> इस दुनिया में कोई भी पदार्त अकृत (न बनाया हुआ – नित्य) नहीं। सारे लोक (स्वर्ग, पृथ्वी, पाताल) कर्म से उत्पन्न हैं – कर्म से उत्पन्न होने के कारण वे अनित्य है। मैं तो नित्य, अमर, अभय, अपरिवर्तनीय, स्थिर और नित्य तत्त्व का अन्वेषक हूँ; इसके विपरीत गुण रखने वाले का नहीं।

उपरिनिर्दिष्ट श्लोक की शंकराचार्यकृत व्याख्या थोड़ी भिन्न होते हुए

भी आत्मप्रकटीकरणरूप ईश्वरी कृपा के प्राधान्य पर बल देती है।

यमेव स्वात्मानम् एष साधको वृणुते, प्रार्थयते
तेनैव आत्मना वरित्रा स्वयमात्मा लभ्यो ज्ञायते।

साधक जिस स्व – आत्मा को ढूँढ़ता है, चाहता है, उसी स्व – आत्मा के द्वारा वह प्राप्त होता है, जाना जाता है।

यहाँ पर साधक अपनी तीव्र इच्छा तथा परिश्रम (व्याकुलता) के द्वारा उसे प्राप्त करता है। अध्यात्म की सभी धाराओं के अनुसार यह अन्वेषण, यह व्याकुलता मानव के लिए अवश्यम्भावी है। परंतु जैसा कि हमने पहले कहा था, यह सब आत्मा की कृपा को आत्मप्रकटीकरण के माध्यम से खींचने हेतु है। श्लोक के पूर्वार्ध पर व्याख्या करते हुए शंकराचार्य ने ईश्वरी कृपा की आवश्यकता पर जोर दिया है।

कथं लभ्यते इत्युच्यते, तस्य आत्मकामस्य, आत्मा विवृणुते प्रकाशयति पारमार्थिकी तनुं स्वां, स्वकीयं स्वयाथात्म्यम् इत्यर्थः।

यह आत्मा कैसे प्राप्त होगा? उत्तर है – उस आत्मा के प्रेमी के समक्ष आत्मा स्वयं अपने सत्य स्वरूप को प्रकट करता है – यही अर्थ है।

यदि इतना ध्यान, इतनी साधना आत्मा के प्रकटीकरण के साधन हैं, तब आत्मा तो इनका कार्य (परिणाम) बन गया! सापेक्ष, सान्त और इसीलिए अनित्य बन गया! क्या ज्ञान का, चेतना का या संवित् का अनित्य दीपक कभी शुद्ध चित्स्वरूप का शाश्वत प्रकाश दे सकता है? टार्च कितना भी बड़ा और शक्तिशाली क्यों न हो, क्या सूरज को प्रकाशित कर पायेगा? अपितु सूर्य ही उस टार्च को और उसकी कक्षा में आनेवाले प्रत्येक छोटे-बड़े प्रकाश-स्रोतों को आलोकित-प्रभावित करता है। उसी प्रकार ध्यान और साधना कितनी भी गहन और उग्र क्यों न हो – यदि वह मन से दूर हो – उनके द्वारा जब आत्मज्ञान होता है, तब यह आत्मा ही है जो मन की

चेतना को वशीभूत करके उन्हीं के माध्यम से प्रकट होता है। उपनिषदों के अनुसार आत्मा नित्यशुद्ध चित्स्वरूप, शाश्वत, अद्वितीय तथा अविनाशी होता है। सभी उपनिषदें एक होकर ऊँचे सुर में आत्मा के इसी स्वरूप का उद्घोष करती हैं और उसे मानव तथा ब्रह्माण्ड का उच्चतम सत्य बताती हैं। कठोपनिषद् ने आत्मा को तेजों का तेज कहा है।

न तत्र सूर्यो भाति न चन्द्रतारकं
नेमा विद्युतो भान्ति कुतोऽयमग्निः।
तमेव भान्तम् अनुभाति सर्वं
तस्य भासा सर्वमिदं विभाति।। कठोपनिषद् २.२.१५

वहाँ (आत्मा के भीतर) न सूर्य चमकता है न चन्द्र, न तारकाएँ, न बिजलियाँ। अग्नि की तो बात ही क्या? जब वह (आत्मा) प्रकाशमान होता है, तभी शेष सब कुछ जगमगाता है।

यदि यही आत्मा का स्वरूप है, तब मानवी मन को यह धारणा अनुपपन्न-सी लगती है कि साधना का प्रभाव उसके ज्ञान पर पड़ता हो। कठोपनिषद में गुरु की भूमिका में यमदेव कहते हैं – **यमेवैष वृणुते तेन लभ्यः, तस्यैष आत्मा विवृणुते तनुं स्वाम्।** आत्मा जिसका चयन करेगा, उसीको आत्मज्ञान प्राप्त होगा। आत्मा अपना यथार्थ स्वरूप उसीके संमुख प्रकट करेगा। यह सच है कि प्रारंभ में साधक ही आत्मा को खोजता है परन्तु अन्त में तो स्वयं आत्मा ही साधक का चयन करता है, अपने आप को साधक के सामने प्रकट करके!

आत्मप्रकटीकरण का यह उपनिषदीय वचन और सगुण ईश्वर को माननेवाले सम्प्रदायों की "ईश्वरी कृपा" की धारणा आध्यात्मिक दृष्टि से मिलतीजुलती है। जैसा कि वर्तमान युग में श्रीरामकृष्ण ने प्रतिपादित किया है, वेदान्त की भी यही मान्यता है कि 'भक्त' का ईश्वर तथा 'ज्ञानी' का ईश्वर; सगुण ईश्वर तथा निर्गुण-निराकार ब्रह्म सब एक ही सत्य के दो रूप हैं। श्रीरामकृष्ण कहते हैं –

"भक्त और विज्ञानी निराकार और साकार दोनों मानते हैं – अरूप और रूप दोनों को ग्रहण करते हैं, भक्तिरूपी हिम के लगने से उसी जल का कुछ अंश बर्फ बन जाता है। फिर ज्ञान-सूर्य के उगने पर वह बर्फ गलकर जल का फिर जल ही हो जाता है।

"जब तक मनुष्य के मन द्वारा विचार करता है, तब तक वह नित्य को नहीं प्राप्त कर सकता। जब तक तुम अपने मन का सहारा लेकर विचार करते हो तब तक तुम संसार के परे नहीं जा सकते, तथा रूप, रस, गन्ध, स्पर्श, शब्द आदि इन्द्रिय-विषयों को भी नहीं छोड़ सकते। विचार के बन्द होने पर ही ब्रह्मज्ञान होता है। इस मन से कोई आत्मा को जान नहीं सकता। आत्मा के द्वारा ही आत्मा का ज्ञान प्राप्त होता है। शुद्ध मन, शुद्ध बुद्धि, शुद्ध आत्मा, ये सब एक ही वस्तु हैं।" (श्रीरामकृष्णवचनामृत, द्वितीय भाग, चौदहवाँ संस्करण, पृष्ठ, ९६०)

रोमाँ रोलाँ लिखित "Life of Ramakrishna" की प्रस्तावना का प्रारंभ है –

"मेरे प्राच्य मित्रों! श्रीरामकृष्ण के ही शब्दों में – ज्ञानियों को चरणस्पर्श। भक्तों को चरणस्पर्श। निर्गुण-निराकार के उपासकों को प्रणाम। सगुण के पूजकों को प्रणाम। पुरातन ब्रह्मज्ञानियों को प्रणाम। अद्यतन सत्यान्वेषकों को प्रणाम।"

दैवी कृपा तथा नैष्कर्म्यसिद्धान्त

ईश्वरी कृपा की धारणा यद्यपि सूफी सम्प्रदाय सहित, सकलगुणगण भगवान् को माननेवाले भक्तिसम्प्रदाय से विशेष रूप से निगडित है, तथापि निर्गुण-निराकार को माननेवाले दर्शनों तथा अद्वैतवेदान्त, झेन और ताओ दर्शनों में भी उसका महत्त्वपूर्ण स्थान है। जैसा कि पहले विवेकचूड़ामणि

का एक श्लोक उद्धृत करके बताया था, इन तीनों दर्शनों में भी भक्त ईश्वरी कृपा को सामान्यतया गुरु द्वारा प्राप्त करता है। भारतीय अद्वैत परम्परा का एक सुप्रसिद्ध वचन है –

ईश्वरानुग्रहादेव पुंसामद्वैतवासना।
महद्भयपरित्राणाद् विप्राणांमुपजायते।। 'अद्वैतगीता' का प्रारंभ।

महद्भय से मुक्ति प्रदान करनेवाली ईश्वरी कृपा से ही मानव को अद्वैतसिद्धान्त के प्रति रुझान होता है।

ताओ तथा झेन सम्प्रदाय उत्स्फूर्तता और स्वाभाविकता (अकृत्रिमता) को सारी साधना या बुद्धिनिष्ठा के ऊपर – जीवन की परिपूर्णता के रूप में मानता है। वेदान्तमत के अनुसार यही ब्रह्मानन्द की अवस्था है जिसमें आत्मा को ही ब्रह्म माना है और समूची सृष्टि को उसी की प्रातिभासिक सत्ता। दोनों ही में अकर्म के द्वारा (through non-effort) नैतिक-आध्यात्मिक परमोच्च उपलब्धि की बात है।

ताओ मत तर्कनिष्ठ ज्ञान तथा अन्त:प्रेरणा से उत्पन्न ज्ञान में अन्तर मानता है। अन्त:प्रेरणोद्भव ज्ञान तथा ऋषिप्रणीत ज्ञान अथवा अज्ञान के बोध (No-knowledge) में भी अन्तर मानता है। अमरीका के – M.I.T., U.S.A. के चीनी वैज्ञानिक श्री. आर. जी. एच. सिउ अपनी Tao of Science नामक पुस्तक में लिखते हैं –

"तर्कनिष्ठ ज्ञान इसीलिए तार्किक है क्योंकि वह तर्क द्वारा प्राप्य है। तर्क छोड़ अन्य मार्गों से पाया जानेवाला ज्ञान तर्कविरहित नहीं, अपितु तर्कातीत होता है।

स्थूल रूप से, मानव ने जिन संकल्पनाओं को बनाकर आगे संक्रमित किया उनका विकास ही बौद्धिक प्रगति है। अब इसी विधान का अधिक विश्लेषण करें। तर्कनिष्ठ ज्ञान तथा अन्त:प्रेरणोद्भव ज्ञान में हमें भेद करना होगा। दोनों में अन्वेषण की भूमिका नितान्त भिन्न है। तर्कनिष्ठ ज्ञान में अन्वेषण का स्थान प्रमुख है, विज्ञान का यहाँ महत्त्वपूर्ण योगदान है। अन्त:

प्रेरणोद्भव ज्ञान में कार्यालयीन श्रेणी (Patent office variety) की खोज या अन्वेषण को विशेष अवसर नहीं। विज्ञान ने मानव की प्रगति को इस क्षेत्र में नहीं बढ़ाया। अगर कुछ किया है तो यही, कि निष्क्रिय – और कभी कभी अश्रद्ध – दृष्टिकोण के कारण मानव की अन्त:प्रेरणासम्पन्न मेधा को कुंठित किया है। पुराने व्यक्तियों ने अन्त:प्रेरणा से ज्ञान प्राप्त किया था – शायद कुछ अन्य तरीके से अर्जित किया हो – परन्तु परिपूर्णता में वह उतनाही तुल्यबल था मानवहृदय के सामने जीवन की शान्त-निराकार गहराई कई बार पूरी स्वच्छन्दता के साथ प्रस्फुटित हुई। इस प्रकार का ज्ञान गणितीय सूत्रों से या वैज्ञानिक ग्रंथों से नहीं जग पायेगा।

अन्त:प्रेरणा के रहस्य को तार्किक लोग नीची दृष्टि से देखते हैं, जबकि अन्त:प्रेरणावादी लोग तार्किकों की कठोर-कर्कश नियमबद्धता को दोष मानते हैं। वस्तुत: उन दोनों में इतना प्रखर विरोध है ही नहीं। अन्त:प्रेरणा के अभाव में सुसम्बद्ध तर्क संभव ही नहीं है।

फिर भी केवल अन्त:प्रेरणोद्भव ज्ञान ही अंतिम लक्ष्य नहीं हो सकता। कभी न कभी इन दोनों ज्ञानों की मर्यादितता रास्ता रोक ही देती है। हमारा डाँवाडोल मन किसी अज्ञात का प्रश्रय पाकर इसका निदान या समाधान खोजने लगता है। ताओ मतानुसार इसी बिन्दु पर ऋषिप्रणीत ज्ञान की अथवा अज्ञान बोध (no-knowledge) की संकल्पना बतायी गयी है। यह ज्ञान सामान्य अर्थ के ज्ञान से भिन्न है। किसी विशिष्ट घटना अथवा श्रेणी (की जानकारी) के संकलन को पश्चिम में ज्ञान का विषय माना गया है। ऋषिप्रणीत ज्ञान ऐसा नहीं। पूर्व में जिसको वू (non-being) कहते हैं, उसके आकलन से वह ऋषिज्ञान निगडित है। यह 'वू' घटनाओं तथा श्रेणियों को दिव्य

स्पर्श देता है; वह निराकार है, कालातीत है। इसी कारण वह साधारण ज्ञान का विषय नहीं बन सकता। इस ज्ञान की परमोच्च अवस्था में ऋषि वस्तुओं में के भेद को भी भूल जाते हैं। वे एक अभेद्य पूर्णत्व की शान्त अवस्था में रहते हैं।

ज्ञानराहित्य और अज्ञानबोध (no-knowledge) के रहने में मौलिक भेद है। इनमें पहली तो केवल अज्ञान की अवस्था है और दूसरी है परिपूर्ण ज्ञान से परम आलोकित अवस्था। कट्टर तर्कवादी को यह अज्ञानबोध-अवस्था किसी रहस्य की पिटारी लग सकती है (hugger – muggery of the mystagogue) परन्तु वस्तुतः यह अनिर्वचनीयता ही उसके सत्यत्व की पुष्टि करती है। प्रकृति के रहस्य उन्हीं को रहस्यमय लगते हैं जो उनमें सहयोगी बनना नकारते हैं।

कोई वैज्ञानिक तर्कनिष्ठ ज्ञान के साथ प्रकृति का केवल एक दर्शक मात्र रहेगा, तो अज्ञानबोध (no-knowledge) के साथ वह प्रकृति का ही एक भाग बन जायेगा। दोनों में परस्पर सामंजस्य है।

– अज्ञानबोध की गहराई को आँकने हेतु व्यक्ति को अनिर्वचनीय के अपने स्वयं के अनिर्वचनीय बोध पर निर्भर रहना चाहिये।

अज्ञानबोध की इस संकल्पना को लेकर पश्चिम में बहुत टटोला गया परंतु दुर्भाग्यवश इस दिशा में किये गये सारे प्रयास या तो अज्ञानबोध को तर्कज्ञान में ढालने में तर्कनिष्ठ ज्ञान से उसका विरोध दर्शाने में ही व्यर्थ गये।

तर्कनिष्ठ ज्ञान के बल पर किसी वैज्ञानिक के साथ तालमेल बैठता है – उस में अन्तःप्रेरणोद्भव ज्ञान मिला देने से पूरी मानव-जाति के साथ सामंजस्य स्थापित हो सकता है और यदि उस में अज्ञानबोध भी जोड़ दिया जाये तो समूची

प्रकृति के साथ सुर मिलाया जा सकता है।" (Tao of Science – p.p. 74-75)

इस सन्दर्भ में 'प्रकृति' का अर्थ है पूरा चेतन अस्तित्व जैसा कि भारतीय तथा चीनी चिन्तन मानता है। ताओ विचारधारा की प्रबल संकल्पना non-effort, जिसे गीता ने अकर्म कहा है, की चर्चा करते हुए, और पूरी व्यवस्था में विकेन्द्रीकरण – धारणा में अकर्म का महत्त्व दर्शाते हुए 'सिउ' कहते हैं –

"विकेन्द्रीकरण के तन्त्र में कुशलता पाने के लिए ताओ अकर्म (inaction) सिद्धान्त की जानकारी आवश्यक है। अकर्म-कला से पूर्णत्व-उपलब्धि होती है। इस विचार का प्रतिपादन कुछ कठिन है, क्योंकि बहुतेरे लोग इसे 'मटरगश्ती' समझकर झट धोखा खा सकते हैं। इस संकल्पना की एक झलक हम चु-आंग-त्से (Chuang-tze) की इस रचना से पायेंगे –

"ज्ञान सीखनेवाला प्रतिदिन पढ़ने का
लक्ष्य रखता है,
ताओ सीखनेवाला प्रतिदिन
खोनेका लक्ष्य रखता है।
निरंतर खोते रहने से
व्यक्ति अकर्म तक पहुँच जाता है,
अकर्म के द्वारा सब कुछ "किया हुआ"
हो जाता है।
जो दुनिया को जीतता है,
वह अकसर अकर्म से ही वैसा कर पाता है।
जब किसी को कर्म के लिए बाध्य किया जाता है,
तब जगत् उसके लिए अजेय बन जाता है।" (वही, पृष्ठ १२४)

इस प्राच्य ज्ञान की तुलना हम दूसरे से, प्रगल्भ प्राच्य गीता के ज्ञान से करेंगे।

कर्मण्यकर्म यः पश्येत्
अकर्मणि च कर्म यः।
स बुद्धिमान् मनुष्येषु,
स युक्तः कृत्स्न-कर्म-कृत्।। भगवद्गीता, ४.१८

जो कर्म में अकर्म तथा अकर्म में कर्म देखता है, वही मानवों में बुद्धिमान् होता है, वही परिपूर्ण योगी है, सभी कर्मों का कर्ता है।

मानवी व्यवस्थापन-क्षेत्र के सन्दर्भ में 'अकर्म' तथा 'न-ज्ञान' सिद्धांतों पर चर्चा करते हुए सिउ के निम्न वचनों में गीता के चतुर्थ अध्याय में की "राजर्षि" संकल्पना प्रतिध्वनित होती है। सिउ कहते हैं –

"दार्शनिक अधिकारी के कर्म 'ज्ञान' की योग्य गति से प्रेरित होते हैं। अंदर से उसकी आध्यात्मिक साधना पल्लवित होती है, बाहर से वह समाजोपयोगी कार्य करता रहता है। प्राचीन चीनी शब्दावली के अनुसार वह "अंदर से मुनि और बाहर से राजा" की वृत्ति विकसित करता है।" (वही, पृष्ठ १५७-५८)

भारतीय अद्वैत-वेदान्त के एक महान् ग्रंथ 'अष्टावक्र-संहिता' में यही अकर्म – सिद्धान्त और 'अज्ञानबोध' की स्थिति वर्णित है। यहाँ कुछ श्लोक दिये गये हैं जो ज्ञान से उत्पन्न उत्स्फूर्तता और स्वाभाविकता को अपार, अद्वितीय और विशुद्ध चित्संवित् के रूप में प्रस्तुत करते हैं –

अहं कर्तेत्यहंमान-महाकृष्णाहिदंशितः।
नाहं कर्तेति विश्वासामृतं पीत्वा सुखी भव।। अष्टावक्रगीता, १.८

"मैं कर्म का कर्ता हूँ।" इस अहंभावरूपी काले सर्प द्वारा डसे गये तुम, "मैं कर्ता नहीं हूँ" ऐसी श्रद्धा का अमृतपान करो और सुख पाओ।

आत्मैवेदं जगत्सर्वं ज्ञातं येन महात्मना।
यदृच्छया वर्तमानं तं निषेद्धुं क्षमेत कः।। अष्टावक्रगीता, ४.४

जिस महात्मा ने सारे जगत् को अपना आत्मा जान लिया

है, उसे उत्स्फूर्त वर्तन करने से कौन रोक सकेगा?

प्रवृत्तौ वा निवृत्तौ वा नैव धीरस्य दुर्ग्रहः।
यदा यत्कर्तुमायाति तत्कृत्वा तिष्ठतः सुखम्।। अष्टावक्रगीता, १८.२०

जब जो कर्म आ पड़ता है उसको सुखपूर्वक करनेवाले ज्ञानी पुरुष का प्रवृत्ति या निवृत्ति में कोई अभिनिवेश नहीं रहता।

न शान्तिं लभते मूढो यतः शमितुमिच्छति।
धीरस्तत्त्वं विनिश्चित्य सर्वदा शान्तमानसः।। अष्टावक्रगीता, १८.३९

मूर्ख अज्ञानी चित्तनिरोध से शान्ति की कामना करता है, इसीलिए शान्ति नहीं पाता। विद्वान् व्यक्ति तथ्य को जानकर सदैव शान्तचित्त रहता है।

स्वभावाद्यस्य नैवार्तिर्लोकवद्व्यवहारिणः।
महाह्रद इवाक्षोभ्यो गतक्लेशः सुशोभते।। अष्टावक्रगीता, १८.६०

स्वभाव से ही आत्मज्ञानी होने के कारण ज्ञानी पुरुष व्यवहार निभाता हुआ भी क्लेश नहीं पाता। किसी विशाल तालाब की भाँति वह क्षोभरहित शोभा पाता है।

निवृत्तिरपि मूढस्य प्रवृत्तिरुपजायते।
प्रवृत्तिरपि धीरस्य निवृत्तिफलदायिनी।। अष्टावक्रगीता, १८.६१

अज्ञानी का अकर्म – निवृत्ति भी प्रवृत्तिरूप बन जाता है, जब कि ज्ञानी की प्रवृत्ति भी निवृत्ति का फल प्रदान करती है।

ज्ञः सचिन्तोऽपि निश्चिन्तः सेन्द्रियोऽपि निरिन्द्रियः।
सबुद्धिरपि निर्बुद्धिः साहंकारोऽनहंकृतिः।। अष्टावक्रगीता, १८.९५

चिंतन के रहते हुए भी ज्ञानी निश्चिन्त रहता है, इन्द्रियोंसहित होकर भी निरिन्द्रिय होता है, बुद्धि रहते हुए भी बुद्धि से परे होता है, और 'अहं' के रहते हुए भी अहंकारशून्य होता है।

मुक्तो यथास्थितिस्वस्थः कृतकर्तव्यनिर्वृतः।
समः सर्वत्र वैतृष्ण्यात् न स्मरत्यकृतं कृतम्।। अष्टावक्रगीता, १८.९८

सदैव आत्ममग्न रहनेवाला, किये हुए कर्मों तथा कर्तव्यकर्मों में संतुष्ट रहनेवाला, तृष्णा के अभाव के कारण सर्वत्र समभाव रखनेवाला व्यक्ति स्मरण नहीं रखता कि कौनसे कर्म किये हैं, कौनसे नहीं किये।

जब एक शिष्य ने श्रीरामकृष्ण से पूछा, "मैं मुक्त कब हो पाऊँगा?" तब उन्होंने सीधे उत्तर दिया, "जब 'अहं'भाव मर जायेगा, तब।"

महान् अज्ञेयवादी तथा मानवतावादी चिंतक बरट्राण्ड रसैल ने आधुनिक मानव के बढ़ते हुए 'अहं' भाव को उसीके भीतर के उच्चतर तत्त्व में विसर्जित करने की आवश्यकता सूचित की है। वे कहते हैं –

"मानव के अब तक के संस्कार प्रकृति के समक्ष नतमस्तक होने के थे। अब मानव उस दास्य से मुक्त होकर, दास बने हुए उस स्वामी के (प्रकृति के) दोष दिखा रहा है। एक नया नैतिक दृष्टिकोण उभर आया, जिससे प्रकृति के सामर्थ्य के सामने झुकने के स्थान पर मनुष्य के लिए हितकारी पदार्थ के सम्मान देने की वृत्ति पनपी। इस सम्मान का अभाव होने पर विज्ञानतन्त्र घातक हो सकता है। जो विज्ञान इस सम्मान के साथ रहकर मनुष्य को प्रकृति के बन्धन से छुटकारा दिला सकता है, वही आगे चलकर मनुष्य को उसके ही मूल्यवान भाग से दूर कर सकता है। (The Scientific Outlook, पृष्ठ २७८-७९)

भारत ने वेदान्त तथा योग में जिस विज्ञान को विकसित किया है, वह सर जूलियन हक्सले के शब्दों में "मानवी सम्भावनाओं का विज्ञान" है। स्पष्ट है कि आजकल का भौतिकशास्त्र या तन्त्रविज्ञान मानव को अपने भीतर के दास्य-अंश से मुक्त करनेवाला शास्त्र नहीं, यद्यपि बाह्य प्रकृति के बंधनों से वह मानव को मुक्ति दिला सकता है और वैसा किया भी है। आइन्स्टीन ने कहा है कि भौतिकशास्त्र प्लूटोनियम के प्राकृतिक गुणधर्मों

को बदल सकता है परंतु मानव के भीतर की दुष्प्रवृत्ति में बदलाव नहीं ला पायेगा।

अकर्म से उत्पन्न स्वच्छन्दता (Sportancity) तभी उपजती है जब आत्मा अपने से उच्चतर तत्त्व को समर्पित हुआ हो, जब इन्द्रियगोचरता की सीमित परिधि से मुक्त हुआ हो। उसकी अभिव्यक्ति केवल संतत्व में ही नहीं अपितु कलात्मक कृतियों में तथा विज्ञानक्षेत्र के कुछ वैज्ञानिक तथ्यों के अन्वेषणों में भी पायी जाती है। बुद्धि या तर्क के परे रहनेवाली सभी तरह की रचनात्मक अन्तर्दृष्टि में यह अभिव्यक्ति होती है।

इन सभी उपलब्धियों में तथा अनुभूतियों में बौद्धिक प्रयास – जो कि अन्तर्दृष्टि के लिए अनिवार्य हैं – जब समस्याओं के सामने हतबल होकर घुटने टेक देते हैं, तब अन्तस्तल की गहराई से सत्य मानो चुप-के से अन्तःकरण में प्रवेश करता है।

इस प्रकार ईश्वरी कृपाविषयक वेदान्तीय शिक्षा में तथा अकर्म और सर्जनशीलता के सभी सिद्धान्तों में एक प्रकार का आध्यात्मिक रिश्ता है। प्रा. फ्रिजो काप्रा (Prof. Frijof Capra) अपनी Tao in Physics नामक पुस्तक में लिखते हैं –

> "वैज्ञानिक अनुसन्धान के क्षेत्र में तर्कनिष्ठ ज्ञान तथा तर्कनिष्ठ काम की निश्चित रूप से महत्त्वपूर्ण भूमिका है परन्तु वही सब कुछ नहीं है। वस्तुतः अनुसन्धान का तर्कनिष्ठ हिस्सा निष्फल रहेगा यदि उसके साथ अन्तःप्रेरणा न हो जो वैज्ञानिक को नयी अन्तर्दृष्टि देकर सृजनशील बनाती है। ये अन्तःप्रेरणाएँ अचानक ही जाग उठती हैं – जब बैठकर गणितीय समीकरणों पर काम करते हैं तब नहीं उठेगी, अपितु कभी स्नान करते हुए, तो कभी जंगलों में घूमते समय, तो कभीं समुद्रकिनारे पर टहलते हुए अचानक वे जाग पड़ती हैं। एकाग्र होकर बौद्धिक कार्य निपटाने के पश्चात् जब विश्राम का समय होता है तब मनकी अतःप्रेरणाएँ उछल पडती हैं और अचानक ही ऐसी

> सुस्पष्ट अन्तर्दृष्टि को जन्म देती हैं जो वैज्ञानिक अनुसंधान में बड़ा आनन्द निर्माण करती हैं। (Tao of Physics, पृष्ठ ३१)

इन सभी अन्त:प्रेरणाओं में आत्मा का चिदंश (चित्-अंश) और तर्कनिष्ठ आकलनशक्ति दोनों, उनसे गहनतर तत्त्व के सामने आत्मसमर्पण करती हैं। अपने साथ निर्मितिक्षमता का अनमोल साधन लेकर उत्स्फूर्तता तभी अपने आप को प्रदर्शित करती हैं – न केवल वैज्ञानिक तथ्यों की खोज के लिए, अपितु "कल्पकता" नामक आनंदमय, समृद्ध मानवी सम्बन्धों के लिए भी।

१७ मई १९६६ के दिन भौतिकि-वैज्ञानिक पी. एल. कपिझा (P. L. Kapitza) ने लंदन की रॉयल सोसाइटी में Recollections of Lord Rutherford पर बोलते हुए, अन्त:प्रेरणा तथा कल्पनाशक्ति ने उस महान् भौतिकशास्त्री को कैसे सुसमृद्ध किया यह बताते हुए प्रशंसोद्गार निकाले,

> "अन्य प्रयोगात्मक शास्त्रों के समान भौतिकी के विकास के इतिहास का भी सबसे मनोरंजक कालखण्ड वह है जिसमें हमें विज्ञान की मूलभूत संकल्पनाओं की आवृत्ति करनी पड़ती है। तब केवल गहरी सोच और अन्त:प्रेरणा पर्याप्त नहीं होती; साहसपूर्ण कल्पनाशक्ति की भी तब आवश्यकता होती है।"
>
> ("The Physicist's Conception of Nature" पृष्ठ ७५३)

फिर बेंजामिन फैंकलिन तथा माइकेल फेराडे को इस श्रेणी के बताकर कापिझा आगे कहते हैं –

> "इन दोनों सुविख्यात हस्तियों का नामनिर्देश मैं इसलिए कर रहा हूँ कि विज्ञान-विकास की एक विशिष्ट अवस्था में जब नयी मौलिक धारणाएँ बनानी होती हैं तब इस प्रकार की समस्या सुलझाने में अगाध पांडित्य का और पारंपारिक शिक्षा का उस वैज्ञानिक के लिए कोई महत्त्वपूर्ण स्थान नहीं होता। ऐसी अवस्था में कल्पनाशक्ति की, ठोस-स्थिर चिंतन की और सबसे अधिक, साहस की आवश्यकता प्रतीत होती है। जब

नयी मौलिक धारणाएँ बनानी होती हैं तब तर्ककठोर विचारशक्ति, जो गणित के लिए अत्यावश्यक है, वैज्ञानिक की कल्पनाशक्ति में बाधा उत्पन्न करती है। तर्कयुक्त विचारधारा न दर्शाते हुए भी विज्ञानक्षेत्रीय प्रश्नों के उत्तर खोजने की वैज्ञानिक की क्षमता को ही intuition या अन्तःप्रेरणा कहा जाता है। शायद हमारे अन्तर्मन से उद्भूत होनेवाली यह कोई विचारपद्धति होगी, परन्तु इसको संचालित करनेवाली नियमावली अभी तक अज्ञात है। (वही, पृष्ठ ७५३-५४)

नैष्कर्म्य तथा क्रियाशीलता का दार्शनिक सिद्धान्त

वेदान्तमत के अनुसार नैष्कर्म्य सिद्धान्त तथा मानवी क्रियाशीलता के शास्त्र तथा दूसरी ओर दैवी कृपा – इनमें गहरा आध्यात्मिक सम्बन्ध है। ये सारी बातें मानव में ही अन्तर्निहित किसी प्रबल दायरे की ओर इंगित करती हैं जो कार्यकारणभाव की कठोर यांत्रिकता से परे है। किसी बाह्य, अशास्त्रीय निसर्गातीत स्रोत से प्रेरित होनेवाली बात यहाँ नहीं। किन्तु किसी शास्त्रीय intuition को उत्पन्न करनेवाली या क्रियाशीलता को सिरजनेवाली विचारधारा का उगम, आधुनिक पाश्चिमात्य मनोविज्ञान के समान अन्तर्मन (Sub-conscious) में ढूँढ़ने की आवश्यकता वेदान्त नहीं मानता, जैसा कि उपर्युक्त परिच्छेद में निर्दिष्ट है। वेदान्त के मतानुसार मानवी मन के पराचेतन (super-conscious) धरातल पर वह उगम होता है। चेतन (conscious), अवचेतन(pre-conscious), अधिचेतन(subconscious) तथा अचेतन (unconscious) के अलावा किसी पराचेतन (super-conscious) स्तर का प्रतिपादन वेदान्त करता है। मानव की क्रियाशीलता के सन्दर्भ में संवित् (cognition) का अध्ययन करते हुए कतिपय आधुनिक पाश्चिमात्य वैज्ञानिकों ने भी इसका निर्देश किया है। सिलवैनो एरियेटी (Silvano Arieti) ने Creativity and its Cultivation के अध्ययन में कहा है –

"प्रस्तुत लेखक के मत में सृजनप्रक्रिया (Creative process) एक ऐसी विशिष्ट प्रक्रिया है जिससे मानव अपनी साधारण मनोवैज्ञानिक प्रतिक्रियाओं का मनोवांछित तरीके में उदात्तीकरण करने का प्रयास करता है।

यद्यपि उप-मानवीय (Infra-human) पशु जिसके पास सीमित प्रतिक्रियाएँ हैं, और मानव जो प्रतीक बनाने में सक्षम है, इन दोनों में याने पशु और मानव में मौलिक भेद है, तथापि दोनों अपने नियत तरीके से ही प्रतिक्रियाएँ दर्शाते हैं। यह प्रतिक्रिया मूल क्रिया (Stimulus) के तत्काल बाद उपजी हो या प्रतीकों के जटिल प्रयोगों के पश्चात्; मानव अपनी सामान्य मानसिकता से, या उसकी संस्कृति की सर्वमान्य शैली से, प्रतिक्रिया दर्शाने को प्रवृत्त होता ही है। यदि ये प्रतिक्रियाएँ किसी संवित्-प्रक्रिया (cognitive process) से गुजरकर आती हैं तो फ्राइड के मनोविश्लेषण के अनुसार वे सामान्यतया दुय्यम पद्धति (secondary process) का अनुसरण करती हैं – सामान्य भाषा में जिसे अरस्तूप्रणीत या साधारण तार्किक विचार कहते हैं।

यह सृजनप्रक्रिया मानव को इन दुय्यम पद्धति (secondary process) से उपजी प्रतिक्रियाओं की जकड़न से मुक्त करती है। किन्तु सृजनशीलता केवल मौलिकता या स्वतन्त्रता नहीं। उससे भी अधिक बहुत कुछ है। वह कुछ बंधन भी लादती है। पहली बात यह है कि दुय्यम पद्धति (secondary process) से भिन्न पद्धति अपनाते हुए भी इसका दुय्यम पद्धति (secondary process) से अन्तर्विरोध नहीं है। अन्यथा इसका परिणाम सृजनात्मक न होकर कुछ अफलातून गडुमडु होता। दूसरी बात यह कि इसका एक और भी लक्ष्य है – वह है मानवी अनुभवों का इष्ट रूप में विकास चाहे

वह कलास्वादन का आनंद हो या जैसा कि विज्ञान में होता है – उपयोगिता, ज्ञान या भविष्यवेध हो। तीसरी बात यह कि यह सृजनप्रक्रिया किसी नये विषय की कामना या अन्वेषण की पूर्ति करे – या किसी ऐसी अनुभूति अथवा अस्तित्व की सृष्टि करे जो सुलभता से पायी न जा सके।" (American Handbook of Psychiatry, खंड ३; प्रकरण ४४, पृष्ठ ७२३-३६)

बीसवीं शताब्दि के मनोविज्ञान के इस विधान के साथ हम वह भी सुन ले जो विगत शती के अन्त में, मानवी मानसिकता के विभिन्न पहलुओं पर वेदान्त के मत दर्शाते हुए स्वामी विवेकानन्द ने कहा था –

"हम मानव के नाते, देखते हैं कि हमारा समस्त तर्कसंगत ज्ञान अहं-बोध के अधीन है। ... फिर एक दूसरी ओर यह भी देख रहा हूँ कि मेरी सत्ता कहने से जो कुछ बोध होता है, उसका अधिकांश मैं अनुभव नहीं कर सकता। ... जब हम भोजन करते हैं, तब वह ज्ञानपूर्वक करते हैं, परन्तु जब हम उसका सार-भाग भीतर ग्रहण करते हैं, तब हम वह अज्ञातभाव से करते हैं। जब वह खून के रूप में परिणत होता है, तब भी वह हमारे बिना जाने ही होता है। और जब इस खून से शरीर के भिन्न भिन्न अंश गठित होते हैं, तो वह भी हमारी जानकारी के बिना ही होता है। किन्तु यह सारा काम हमारे द्वारा ही होता है। ... पर यह किस तरह हमें मालूम हुआ कि हमीं इनको कर रहे हैं, दूसरा कोई नहीं? ... क्योंकि यह प्रमाणित किया जा सकता है कि अभी जो काम हमारे बिना जाने हो रहे हैं, वे लगभग सभी साधना के बल से हमारे जाने साधित हो सकते हैं। ... इससे क्या ज्ञात होता है? यही कि इस समय जो काम हमारे बिना जाने हो रहे हैं, उन्हें भी हमीं कर रहे हैं, पर हाँ, हम उन्हें अज्ञातभाव से कर रहे हैं, बस, इतना ही।

"अतएव हम देखते हैं कि मानव-मन दो अवस्थाओं में रहकर कार्य करता है। पहली अवस्था को (ज्ञान या चेतन भूमि) कह सकते हैं। जिन कामों को करते समय साथ साथ, 'मैं कर रहा हूँ,' यह ज्ञान सदा विद्यमान रहता है, वे कार्य (ज्ञान या चेतन भूमि) से साधित हो रहे हैं, ऐसा कहा जा सकता है। दूसरी भूमि को अज्ञान या अचेतन भूमि कह सकते हैं। जो सब कार्य ज्ञान की निम्न भूमि से साधित होते हैं, जिसमें 'मैं'-ज्ञान नहीं रहता, उसे अज्ञान या अचेतन भूमि कह सकते हैं। ...

"मन इन दोनों से भी उच्च भूमि पर विचरण कर सकता है। मन ज्ञान की भी अतीत अवस्था में जा सकता है। जिस प्रकार अज्ञान-भूमि से जो कार्य होता है, वह ज्ञान की निम्न भूमि का कार्य है, वैसे ही ज्ञान की उच्च भूगि से भी – ज्ञानातीत भूमि से भी कार्य होता है। उसमें भी किसी प्रकार का अहं-भाव नहीं रहता। ...

"हम जान-बूझकर जो काम करते हैं, जिसे हम विचार का क्षेत्र कहते हैं, वह संकीर्ण और सीमित है। मनुष्य का युक्ति-तर्क एक छोटे से वृत्त में ही भ्रमण कर सकता है, वह कभी उसके बाहर नहीं जा सकता। हम जितना ही उसके बाहर जाने का प्रयत्न करते हैं, उतना ही वह असम्भव सा जान पड़ता है। ऐसा होते हुए भी, मनुष्य जिसे अत्यन्त कीमती और सबसे प्रिय समझता है, वह तो उस युक्ति या तर्क के राज्य के बाहर ही है। अविनाशी आत्मा है या नहीं, ईश्वर है या नहीं, इस जगत् के नियन्ता – परम ज्ञानस्वरूप कोई है या नहीं – इन सब तत्त्वों का निर्णय करने में तर्क असमर्थ है। इन सब प्रश्नों का उत्तर तर्क कभी नहीं दे सकता। तर्क क्या कहता है? वह कहता है, "मैं अज्ञेयवादी हूँ। मैं किसी विषय में 'हाँ' भी नहीं

कह सकता और 'ना' भी नहीं।'' फिर भी इन सब प्रश्नों का समाधान तो हमारे लिए अत्यन्त आवश्यक है। इन प्रश्नों के ठीक ठीक उत्तर बिना मानव-जीवन उद्देश्यहीन हो जायगा। इस तर्करूप वृत्त के बाहर से प्राप्त हुए समाधान ही हमारे सारे नैतिक मत, सारे नैतिक भाव, यही नहीं, बल्कि मानव-स्वभाव में जो कुछ सुन्दर तथा महान् है, उस सबकी नींव हैं। अतएव यह सबसे आवश्यक है कि हम इन प्रश्नों के यथार्थ उत्तर पा लें। यदि मनुष्य-जीवन केवल पाँच मिनट की चीज हो, और यदि जगत् कुछ परमाणुओं का आकस्मिक मिलन मात्र हो, तो फिर दूसरे का उपकार मैं क्यों करूँ? दया, न्यायपरता या सहानुभूति दुनिया में फिर क्यों रहे? तब तो हम लोगों का यही एकमात्र कर्तव्य हो जाता है कि जिसकी जो इच्छा हो, वही करे, सब अपना अपना देखें। ...

''मानव-जीवन नाना प्रकार के विपरीत भावों से ग्रस्त होने के कारण असामंजस्यपूर्ण है। इस असामंजस्य में कुछ सामंजस्य और सत्य प्राप्त करने के लिए हमें युक्ति-तर्क के अतीत जाना पड़ेगा। पर वह धीरे धीरे करना होगा, नियमित साधना के द्वारा ठीक वैज्ञानिक उपाय से उसमें पहुँचना होगा, और सारे अंधविश्वास को भी हमें छोड़ देना होगा। अन्य कोई विज्ञान सीखने के समय जैसा हम लोग करते हैं, इस अतिचेतन अवस्था के अध्ययन के लिए ठीक उसी धारा का अनुसकरण करना होगा। युक्ति-तर्क को ही अपनी नींव बनाना होगा। युक्ति-तर्क हमें जितनी दूर ले जा सकता है, हम उतनी दूर जायँगे और जब युक्ति-तर्क नहीं चलेगा, तब वही हमें उस सर्वोच्च अवस्था की प्राप्ति का रास्ता दिखला देगा। अत: यदि कोई अपने को दिव्य प्रेरित कहकर दावा करे, फिर साथ ही युक्ति के विरुद्ध भी अटपट बोलता रहे, तो उसकी बात मत सुनना।

क्यों? इसलिए कि जिन तीन भूमियों की बात कही गयी है, जैसे – जन्मजात-प्रवृत्ति, चेतन या तर्कजात ज्ञान और अतिचेतन या ज्ञानातीत भूमि – ये तीनों एक ही मन की विभिन्न अवस्थाएँ हैं। एक मनुष्य के तीन मन नहीं हैं, वरन् उस एक ही मन की एक अवस्था दूसरी अवस्थाओं में परिवर्तित हो जाती है। जन्मजात-प्रवृत्ति चेतन या तर्कजात ज्ञान में और तर्कजात ज्ञान अतिचेतन या जगदतीत ज्ञान में परिणत होता है। अत: इन अवस्थाओं में से कोई भी अवस्था दूसरी अवस्थाओं की विरोधी नहीं है। यथार्थ दिव्य प्रेरणा, तर्कजात ज्ञान की अपूर्णता को पूर्ण मात्र करती है। पूर्वकालीन महापुरुषों ने जैसा कहा है, "हम विनाश करने नहीं आये, वरन् पूर्ण करने आये हैं", इसी प्रकार दिव्य प्रेरणा भी तर्कजात ज्ञान का पूरक है और उसके साथ उसका पूर्ण समन्वय है।" (विवेकानन्द साहित्य, प्रथम खण्ड, तृतीय संस्करण, पृष्ठ ९१-९७)

आधुनिक मनोविज्ञान कहता है कि जो ज्ञान पूर्वचेतन दशा (pre-conscious state) से उपजता है, या जो ज्ञान अतार्किक (non-logical) श्रेणी का हो, वह प्राथमिक संवित है, और चेतनावस्था में उत्पन्न तर्कपूर्ण श्रेणी का ज्ञान विकसित संवित् (Secondary cognition) है। सिलवानो एरियेटी (Silvano Arieti) कहते हैं –

"प्रस्तुत लेखक के मतानुसार, प्राथमिक संवित् के साथ विकसित संवित् के यथायोग्य समन्वय से सृजनप्रक्रिया जन्म लेती है। इस विशिष्ट संयोग को लेखक के मत में 'तृतीय प्रक्रिया' (tertiary process) कहा जाय।" (Creativity and its Cultivation पृष्ठ ७२६)

सृजनप्रक्रिया को निर्माण करने हेतु प्राथमिक प्रक्रिया के साथ द्वितीय (विकसित) प्रक्रिया के समुचित संयोग के बहुविध प्रकारों की तथा शब्दालंकार, विनोद, शब्दश्लेष, लोकोक्तियाँ, काव्य आदि उसकी

अभिव्यक्तियों की चर्चा करने के पश्चात् लेखक विज्ञानक्षेत्र में उसकी अभिव्यक्ति की ओर मुड़ते हैं –

"सृजनशीलता के सन्दर्भ में अपनी अभिजात कृति में महान फ्रांसीसी गणितज्ञ पोईनकेअर (Poincare) ने अपनी सर्जक प्रतिभा के क्षणों का सटीक वर्णन किया है। एक गणितीय प्रमेय पर पूरी रात जगकर काम करके भी जब प्रत्याशित उत्तर नहीं मिला, तब सुबह वे किसी बस में चढ़े। बस की सीढ़ी पर पैर रखते ही, सतही तौर पर कोई चेतन प्रयास न करते हुए भी एक विचार मन में कौंध गया कि Fuchsian Functions की परिभाषा करने हेतु जिस परिवर्तनप्रक्रिया (transformation) का उन्होंने प्रयोग किया था, वह नॉन-यूक्लिडियन ज्यामिति से अभिन्न था। यह अचानक कौंध गयी विचारकिरण ही गणित के क्षेत्र में महान विकास की सहायभूत सीढ़ी बन गयी।

पोईनकेअर ने अपने निजी अनुभव वर्णन तो बखूबी किये, परन्तु अपनी सृजनशील अन्तर्दृष्टि पर बल नहीं दिया जिसने पहले भिन्न प्रतीत होनेवाले दो विख्यात transformations – तथा Fuchsian Non-Euclidian – की एकरूपता को देख लिया था। पूर्व रात तथा उसके पहले चौदह दिनों से पोईनकेअर तथ्य जुटाने में व्यग्र थे। परन्तु तथ्यों को जुटाना कोई सृजनशीलता नहीं होती। तथ्यों को तो बहुत से लोग एकत्रित कर सकते हैं। सृजन तो तभी उभरता है जब संकलित तथ्यों में सामंजस्य स्थापित हो, अर्थात् पहले से जानी पहचानी वस्तु को देखने के पश्चात् उसी के समकक्ष या पूर्णतया नवीन वस्तु का आविष्कार हो जाता है।

सृजनक्षमता निर्माण करने हेतु सिलवैनो एरियेटी इसके आगे कुछ उपाय सुझाते हैं –

"सर्वविदित है कि इतिहास के विशिष्ट कालखंड में किसी विशिष्ट भौगोलिक क्षेत्र में प्रतिभाशाली व्यक्ति अपेक्षाकृत अधिक संख्या में जन्म लेते हैं। इससे ऐसा लगता है कि जैविक घटकों पर ही नहीं, सृजनशीलता विशिष्ट भौतिक परिस्थितियों पर भी निर्भर है।

कतिपय लेखकों के स्वतंत्र रूप से किये हुए अध्ययनों से निष्कर्ष निकलता है कि अत्यंत बुद्धिमान् व्यक्ति अनिवार्य रूप से अत्यंत सृजनशील होगा ही, ऐसा नहीं है। यद्यपि निर्मितक्षम व्यक्ति बुद्धिमान होते ही हैं, फिर भी निर्मिति के लिए अति तीव्र बुद्ध्यक (IQ) अनिवार्य नहीं, अपितु कठोर आत्मपरीक्षण तथा सांस्कृतिक वातावरण से क्या मिल सकता है यह जानने की शीघ्रता व्यक्ति के अन्त:स्रोतों पर रुकावट डाल सकती है। इसमें हमें यह भी जोड़ना चाहिये कि गणितीय तथा तार्किक नियमों से चलने की क्षमता संयत चिन्तकों का धर्म है, परन्तु सृजनशील व्यक्ति की अनिवार्यता नहीं।

प्रतिभासाधन का शास्त्र अभी प्राथमिक अवस्था में है। लेखक केवल उन प्राथमिक और तात्कालिक संकल्पनाओं का सुझाव दे सकता है जो अपेक्षाकृत बड़ी संख्या में सृजनशील व्यक्तियों की मनोविश्लेषणात्मक तथा मनश्चिकित्सात्मक अनुभूतियों के सर्वेक्षण से प्राप्त हैं।

इसी अध्याय में हमने देखा कि प्राथमिक चेतना किस प्रकार सृजनक्षमता का मूल प्रयोजन बनती है। सृजनक्षमता बढ़ाने हेतु साइकोपैथालाजी (Psychopathology) का प्रतिपादन हम निश्चित रूप से नहीं करेंगे। अल्कोहल, अफीमजन्य वस्तुओं, और आजकल लिसेर्जिक ऐसिड डाइथिलामाइड आदि रसायनों का प्रयोग करके कइयो ने सृजनशीलता में वृद्धि करने का प्रयास किया है। कोई भी मनोवैज्ञानिक इन तरीकों का पुरस्कार

या सिफारिश नहीं करेगा, क्योंकि इनमें व्यसनाधीन होने का खतरा भी है और सृजनशीलता भी सन्देहास्पद ही है। प्राथमिक प्रक्रिया को इनसे कुछ हदतक बढ़ावा मिलता है परन्तु द्वितीय (विकसित) प्रक्रिया इनसे घट ही जाती है; और हमने देखा है कि निर्मितिक्षमता (तृतीय प्रक्रिया) तो इन दो प्रक्रियाओं के सुचारु समन्वय से ही जन्म लेती है।

मादक द्रव्यों के अवलम्बन की अपेक्षा हम कुछ विशेष वृत्तियों, आदतों तथा प्रकृतिक परिस्थितियों को ही तूल देंगे और उन्हीं का पुरस्कार करेंगे। पहली स्थिति है एकान्तवास की। संसार से कुछ हदतक निर्लिप्त होने को एकान्तवास कहा जा सकता है। इस अवस्था में अन्तरात्मा की आवाज सुन सकने की तथा प्राथमिक अवस्था के कुछ सीमा तक प्रकटीकरण की अपेक्षाकृत अधिक संभावना है। युवा वर्ग को शिक्षा देने की आधुनिक प्रणाली में दुर्भाग्यवश एकान्तवास का उपदेश नहीं दिया जाता, अपितु सामूहिकता तथा जनप्रियता को ही अधिक संमाननीय माना जाता है।

इस एकान्तवास को पीड़ादायक अकेलापन, या निर्मोहिता, नि:संगता या नित्य विजनवास समझने की गलती न करें।

सृजनक्षमता को बढ़ाने की दूसरी विशेषता – नैष्कर्म्य (Inactivity) ऐसी है जो आधुनिक अमरीकन संस्कृति के ठीक विपरीत है। नैष्कर्म्य से हमारा मतलब स्किझोफ्रेनिक निवृत्ति, अकर्मण्यता (catatonic immobility) अथवा मटरगश्ती नहीं, अपितु ऊपरी सतह पर – बाह्यत: – कुछ न करने के लिए व्यक्ति को कुछ अवधि पा सकने की अनुज्ञा है। यदि व्यक्ति बाह्य कामों पर ही अपना पूरा ध्यान केन्द्रित करे, तो उसके अन्त:स्रोतों के विकास की संभावनाएँ घटती जायेंगी।

यहाँ पर भी अमरीकी जीवनशैली ठीक विपरीत है। आत्यंतिक व्यग्र दिनचर्या मानसिक कृतिशीलता का तथा सृजनक्षमता का गला घोंट देती है।

तीसरी वृत्ति है दिवास्वप्न देखने की। दिवास्वप्न देखने की। दिवास्वप्न के द्वारा व्यक्ति अपने आप को रोजमर्रा के ऊबाऊ जीवन से मुक्त करके किसी अतार्किक विलक्षण दुनिया की सैर कर लेता है।

सृजनशील व्यक्ति की एक और आवश्यकता ऐसी है जिसे स्वीकार करना बड़ा दुष्कर है – वह है वंचना (gullibility)। थोड़े समय के लिए – या जबतक गलत सिद्ध नहीं होता तबतक के लिए – मान लेना कि स्वयं के भीतर तथा बाहर सर्वत्र कुछ सुनिश्चित व्यवस्थाएँ हैं – इस धारणा के अर्थ में यहाँ gullibility शब्द प्रयुक्त हुआ है। इसी सर्वव्यापी सुनिश्चित व्यवस्था की खोज में सृजनशीलता समायी हुई है – नवीन वस्तुओं के आविष्कार से भी अधिक।

दक्षता तथा नियबद्धता भी सृजनशीलता की अन्य आवश्यकताएं हैं। साधारणतया किसी भी प्रकार की उत्पादनक्षमता के लिए ये प्राथमिक आवश्यकताएं हैं, तथापि सृजनशीलता में इनका एक विशेष पहलू, विशेष भूमिका है। कलाक्षेत्र की कई उभरती प्रतिभाओं की एक प्रिय मान्यता है कि कल्पनाशक्ति, स्फूर्ति, अन्त:प्रेरणा तथा प्रतिभा-ये वृत्तियाँ महत्त्वपूर्ण होती हैं। तंत्रशुद्ध शिक्षा, नियमबद्धता या तर्ककठोर विचारों के कर्कश बंधन में फँसने से वे कतराते हैं – यह बहाना बनाकर कि ये सारी बातें उनकी उन्मुक्त निर्मितिक्षमता को कुंठित करेंगी।

एक विनोदपूर्ण व्यंगात्मक अभिप्राय आजकल बहुप्रचलितसा हो गया है परंतु उसमें बहुत हद तक रूपकात्मक

तथ्य भी है – वह अभिप्राय है – ("Creativity is ten percent inspiration and ninety per cent perspiration!" पृष्ठ ७३६-४०)

कृपापात्र बनने हेतु साधना

सिलवैनो एरियेटी द्वारा निर्मितिक्षमता की पुष्टि करनेवाली सारी सीढ़ियाँ साधना के ही अंग हैं। धर्मशास्त्र की आध्यात्मिक विभूतियाँ इससे परिपूर्ण रहती हैं जो मानव की आध्यात्मिक प्रगति का शास्त्र है। सारे एन्थिकल सम्प्रदायों की शुचिता की धारणा इससे विपरीत, गणितीय तथा औपचारिक होती हैं।

श्रीरामकृष्ण संकेत देते हैं कि जीवन में – विशेषतया आध्यात्मिक जीवन में – साधक को केवल ईश्वरी कृपा पाने के लिए ही नहीं तो स्वयं के मन की कृपा पाने हेतु भी साधना की आवश्यकता है। इसके पुष्ट्यर्थ – और इसकी पुष्टि आवश्यक भी है – वे बंगाली वैष्णव परम्परा का एक वचन उद्धृत किया करते थे –

गुरु, कृपा, वैष्णव, तीनेर दया होलो।
एकेर दया बिने जीव चारेखारे गेलो।।

मैंने गुरु, कृष्ण तथा वैष्णवजन, तीनों से कृपा पायी है, परंतु एक की (स्वयं के मन की) कृपा पाये बिना मेरा जीवन व्यर्थ है।

इसलिए, यदि अपनी युवावस्था में आत्मनिर्भरता तथा चारित्र्यबल से तुमने अपना व्यक्तित्व शक्तिशाली बनाया है तो तुमने कृपा की वायुलहरी पकड़ ही ली है और धीरेधीरे तुम अधिक बलवान्, अधिक विशुद्ध बनकर उसका रसास्वादन भी करोगे और लाभ भी उठाओगे।

और जब तुम अपनी समस्त शक्ति सदा बहनेवाले उस वायुमण्डल को समर्पित करोगे तो तुम सर्वाधिक शक्तिशाली बनोगे क्योंकि अस्तित्व तो केवल "उसी" का है; हम तो उस दिव्य ज्वाला की बस चिनगारियाँ हैं। दिव्य कृपा के पीछे हमें व्याकुल होकर भागना नहीं पड़ेगा, बल्कि उस

कृ.पा के योग्य बनना पड़ेगा। आत्मनिर्भरता, कठोर परिश्रम और चारित्र्यबल विकसित करने हेतु की हुई साधना से प्राप्त पुरुषार्थ से ही यह कृपापात्रता आती है। आध्यात्मिक उपलब्धि के चरम बिन्दु "प्रपत्ति" या "शरणागति" के निकट से निकटतर यही कृपापात्रता धीरे धीरे पहुँचाती है।

यदि मन प्रकृति के रज-तम गुणों से प्रभावित है, तो शरणागति का प्रयास यदि किया भी तो सही नहीं होगा। उस स्थिति में भक्ति तथा ईश्वरशरणता की साधारण भावना के साथ पुरुषकार अथवा आत्मनिर्भरता की वृत्ति ही ठीक रहेगी। परंतु मन जब सत्त्वगुण के अथवा कम से कम सत्त्वाधिष्ठित रजोगुण के स्तर तक ऊपर उठता है तभी शरणागति की और ईश्वरी कृपा को समझ पाने की क्षमता प्राप्त होती है। इसी स्तर पर भक्ति अपने विशुद्धतम और सर्वोत्तम रूप में चमक उठती है और जीवन स्वच्छन्दता, स्वाभाविकता तथा अकर्म की कक्षा तक पहुँचता है। भागवतोत्तम का स्वभाव वर्णन करते हुए श्रीमद्भागवत में ऐसे जीवन का सुंदर चित्रण किया है –

सर्वभूतेषु यः पश्येद् भगवद्भावमात्मनः।
भूतानि भगवत्यात्मनि एष भागवतोत्तमः।। भागवत, ११.२.४५

जो प्राणिमात्र के आत्मा के रूपमें ईश्वर को तथा ईश्वर में सर्व प्राणिमात्र के आत्मा को देखता है, वही हरिभक्तों में सर्वोत्तम है।

ईश्वरे तदधीनेषु बालिशेषु द्विषत्सु च।
प्रेम-मैत्री-कृपोपेक्षा यः करोति स मध्यमः।। भागवत, ११.२.४६

जो ईश्वर में प्रीति, उसके भक्तों से मित्रता, बालिशों के प्रति कृपाभाव तथा शत्रुओं से अलिप्तभाव रखता है वह मध्यम श्रेणी का भक्त है।

अर्चायामेव हरये पूजां यः श्रद्धयेहते।
न तद्भक्तेषु चान्येषु स भक्तः प्राकृतः स्मृतः।। भागवत, ११.२.४७

जो केवल हरिमूर्ति की ही पूजा श्रद्धापूर्वक करना चाहता

है परंतु उसके भक्तों तथा अन्यों की नहीं, वह अतिसाधारण भक्त है।

गृहीत्वापीन्द्रियैरर्थान् यो न द्वेष्टि न हृष्यति।
विष्णोर्मायामिदं पश्यन् स वै भागवतोत्तमः।। भागवत, ११.२.४८

इन्द्रियों द्वारा विषयानुभूति करते हुए भी उसको विष्णु की माया समझकर जो न द्वेष करता है न हर्षित होता है, वह भागवतोत्तम है।

देहेन्द्रियप्राणमनोधियां यो
जन्माप्ययक्षुद्भयतर्षकृच्छ्रैः।
संसारधर्मैरविमुह्यमानः
स्मृत्या हरेर्भागवतप्रधानः।।

जन्म, मृत्यु, भूख, प्यास, भय, कष्ट आदि देह – इन्द्रिय, मन, प्राण बुद्धि को व्यापने वाले संसारधर्मों से भी हरि के स्मरण के बल पर अविचल रहता है, वह प्रमुख हरिभक्तों में से एक होता है।

न काम-कर्म-बीजानां यस्य चेतसि सम्भवः।
वासुदेवैकनिलयः स वै भागवतोत्तमः।। भागवत, ११.२.५०

केवल वासुदेव में ही शरण लेने के कारण जिसके चित्त में काम तथा कर्म के बीजों के लिये भी कोई स्थान नहीं, वह भागवतोत्तम है।

न यस्य जन्मकर्माभ्यां न वर्णाश्रमजातिभिः।
सज्जतेऽस्मिन्नहंभावो देहे वै स हरेःप्रियः।। भागवत, ११.२.५१

जन्म, कर्म, वर्ण, आश्रम, जाति इत्यादि धारणाओं द्वारा जिसको देह के प्रति अहं बुद्धि नहीं होती वह हरि को प्रिय लगता है।

न यस्य स्वः पर इति वित्तेष्वात्मनि वा भिदा।
सर्वभूतसमः शान्तः स वै भागवत्तेत्तमः।।

जिसके मन में 'यह अपना', 'यह पराया' ऐसा भेद नहीं
है, जो शान्तचित्त है, सभी प्राणिमात्रों के लिए जिसके मन
में समदर्शिता है, वह हरिभक्तों में सर्वोत्कृष्ट है।

सही अर्थ में विचार करने पर हर भक्त को इस तथ्य से प्रेरणा मिलती है कि उसे ईश्वरी कृपा प्राप्य है। इसी से उसे पुरुषकार तथा ईश्वरी कृपा के मनोहर, स्वाभाविक और फलदार्यी मार्ग पर आगे बढ़ने की चालना मिलती है, जब तक दैवी कृपा का प्रवाह उसे पूरी तरह समा लें।

जब लोग धर्म को एक जीवनाभिव्यंजक शास्त्र के रूप में सही अर्थ में समझ पायेंगे, तब उन्हें प्रतीत होगा कि मानव के बाह्य तथा आन्तर जीवन में, उसके व्यावहारिक तथा आध्यात्मिक जीवन में कोई बहुत बड़ी खाई नहीं है। 'बाह्य' तथा 'आन्तर' ये शब्द केवल उपचार मात्र के लिए हैं। जीवन तथा सत्य की दृष्टि में ऐसा कोई अंतर नहीं। जो बाह्य है, वही आन्तर भी है। नारायणोपनिषद् कहती है कि अन्तर्यामी नारायण मानव के तथा ब्रह्माण्ड के अंदर भी बसता है और बाहर भी।

अन्तर्बहिश्च तत्सर्वं व्याप्य नारायणः स्थितः

सो जब आप दुनिया में काम करते हैं, तब नारायण के द्वारा नारायण में ही काम करते हैं। वस्तुतः आप नारायण से दूर हैं ही नहीं। वेदान्त के अनुसार ईश्वर दिव्य भी है और अन्तर्यामी भी। वह भीतर भी है, और बाहर भी। श्रीरामकृष्ण ने विवेकानन्द से कहा था,

"भगवान को आँखें बंद करके भी देखना सीखो और खुलीं आँखों से भी। आँखे बन्द करके ध्यानावस्था में, तथा काम करते समय य' आपसी व्यवहार में आँखें खुली रखकर।"

निष्कर्ष

मानवी जीवन की प्रारंभावस्था में जब दुनियाई व्यवहार में वह व्यस्त रहता है, तब वस्तुतः वह दिव्यत्व का भी स्पर्श पाता है। व्यक्ति इसे जान नहीं पाता, परंतु व्यक्ति की जीवनपद्धति पर इस ज्ञान का उदय अवलंबित

है। जब आत्मनिर्भरता तथा पुरुषकार से अर्जित की हुई शक्ति की ओर स्वयमेव उन्मुख होती है – जो शक्ति और कुछ नहीं दिव्यत्व के संमुख आत्मसमर्पण है – तभी उपरिनिर्दिष्ट सत्य मानव की समझ में पूर्णतया आता है। यह एकमात्र स्थान है जहाँ आत्मसमर्पण ही परमोच्च विजय में परिवर्तित होता है। फिर यह ज्ञान उदित होता है कि ईश्वरी कृपा की वायुलहरी जीवन-जल पर तैरनेवाली व्यक्तिरूपी छोटीसी नौका को सम्पूर्ण सार्थकता के महासागर की दिशा में धीरेधीरे आगे बढ़ा रही है। इसका यह भी अर्थ निकलता है कि आत्मसमर्पण के पश्चात् भी जीवन तथा जीवन के कार्य चलते ही रहते हैं, परन्तु तब वे स्वाभाविक रूप में, सहज अन्त:स्फूर्ति से अनायास होते रहते हैं – परब्रह्म के एक माध्यम के रूप में केवल जगत्कल्याणार्थ ही वे कार्य घटित होते हैं।

अत: वेदान्त में कहा गया है कि ईश्वरोन्मुखता और मुमुक्षुत्व के लिए भी ईश्वर की कृपा आवश्यक है। आध्यात्मिकता की ओर रुझान और परमतत्त्व की लालसा इसी कृपा के कारण उपजती है। सत्रहवीं शताब्दि के गणितक्षेत्र के साक्षात् चमत्कार ब्लेझ पास्कल (Blaise Pascal) को लगा था कि स्वयं ईसा मसीह कह रहे हैं –

"तुम अपने पापकर्मों को जितना चाहते हो,
उससे अधिक मैं तुम्हें चाहता हूँ।
यदि तुमने मुझे नहीं पाया, (मेरी कृपा न पायी)
तो तुम मेरी खोज न करोगे।
इसलिए चिन्तित मत होना।" (Pensees, Dutton paperback संस्करण, पृष्ठ १५०-५१)

यह खोज भी एक प्रकार की उपलब्धि (खोया हुआ पा जाना) ही है, क्योंकि जिसे ढूँढना है वह परमोच्च तत्त्व हमारे भीतर ही विद्यमान है। ईश्वरी कृपा मानव-जीवन में इसी प्रकार काम करती है परन्तु हम संपूर्णतया उसे तभी समझ पाते हैं जब आत्मसमर्पण द्वारा ईश्वरत्व अथवा संतत्व की ओर जानेवाले मार्ग पर अपने पुरुषकार की शक्ति के साथ चलकर हम

आध्यात्मिक दृष्टि से प्रगल्भ बनते हैं। फिर उस ऊंचाई पर पहुँचने के पश्चात् कहा जा सकता है कि "अब मेरा खेल समाप्त हुआ। मैं अब सत्य को पहचान रहा हूँ; जो कुछ भी था और है वह सब ईश्वरी कृपा ही है।" दिव्यत्व तक पहुँचने की मानव की आध्यात्मिक यात्रा में पुरुषकार तथा समर्पण दो पड़ाव हैं। पुरुषकार पहला पड़ाव, समर्पण अंतिम।

आप सब की आध्यात्मिक प्रशिक्षा, उसमें वृद्धि तथा ध्येयपूर्ति में संपूर्ण सुयश की मैं कामना करता हूँ। आप नर से नारायण बने, साधारण मानव से संत बनें। यही जीवन का सम्पूर्ण दर्शन है, और यही गीता का योग है।

□□□

श्रीरामकृष्ण-विवेकानन्द साहित्य

एवं अन्य आध्यात्मिक प्रकाशनों के लिए लिखें :

रामकृष्ण मठ, (प्रकाशन विभाग)
रामकृष्ण आश्रम मार्ग, धन्तोली, नागपुर ४४० ०१२

(H-147) Daivikripa : Rs. 10.00